❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी

-: प्रकाशक :-

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ॐ

❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी

मार्गदर्शन :

बालब्रह्मचारिणी कल्पना जैन

सागर / जयपुर

संकलन एवं लेखन :

पण्डित अरुण जैन, व्याकरणाचार्य
जयपुर

पण्डित सचिन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

सम्पादक :

पण्डित अशोक लुहाड़िया

पण्डित सुधीर शास्त्री

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

—: प्रकाशक :—

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि.
वी.एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई–400056

एवं

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 हाथरस (उत्तरप्रदेश)

प्रथम संस्करण - 2020 : 1000 प्रतियाँ
आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के 300वें जन्म-जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में

न्योछावर राशि :

— मुमुक्षुता की प्रगटता अथवा भावना/संकल्प ही,
इस ग्रन्थ का उचित मूल्य है।

प्राप्तिस्थान :

- **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश)
  Mob. : 9997996346; Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

- **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
  हस्ते - **श्री हितेन ए. सेठ**
  302, कृष्ण-कुंज, प्लॉट नं. - 30, नवयुग सीएचएस लि., वी.एल. मेहता मार्ग
  विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई - 400056
  e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

- **तीर्थधाम चिदायतन,** श्री मुकेश जैन महामन्त्री, जिला मेरठ-250404, उत्तर प्रदेश
  Mob. : 9837079003

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015 (राजस्थान)

- **सत्श्रुत प्रभावक ट्रस्ट,** 'गुरुगौरव', जैन मन्दिर मार्ग, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

- **जैन अध्ययन केन्द्र,** पाटनी भवन, कहान तिराहा, झालरापाटन-326023 (राज०)

- **आजाद ट्रेडिंग कम्पनी,** जैनमन्दिर के नीचे, लाल कुँआ, बुलन्दशहर-203001 (उ.प्र.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर, जयपुर

आभार

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा प्रकाशित एवं प्ररूपित आत्महितकारी मङ्गल देशना, हमें ज्ञानी सन्तों एवं विद्वानों के माध्यम से सतत् उपलब्ध रही है। सभी आत्मज्ञानी महापुरुषों ने निज आत्मस्वरूप के साक्षात्कारपूर्वक, उसके स्वरूप को वाणी अथवा लेखनी के माध्यम से उद्घाटित करने का महा-मङ्गलमय प्रयत्न करके, अज्ञान-अन्धकार से विमूढ़ जीवों पर, अनन्त -अनन्त उपकार किया है।

जहाँ भावलिङ्गी वीतरागी सन्तों ने प्राकृत / अप्रभ्रंश / संस्कृतभाषा में अनेक आत्महितकारी ग्रन्थों की रचना कर, माँ जिनवाणी के कोष को समृद्ध किया है, वहीं आत्माज्ञानी गृहस्थ विद्वान भी इस कार्य में पीछे नहीं रहे हैं। इन विद्वानों ने उन महा-ग्रन्थों की देशभाषामय टीकाएँ रचकर तथा उनके ही आधार पर गद्य-पद्यभाषा में सत्-साहित्य की संरचना करके, अल्पबुद्धि जीवों के लिए, मुक्तिमार्ग को टिकाये रखा है।

हम, परमपूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों एवं पूज्य वीतरागी सन्तों के जितने ऋणी हैं, उतने ही ऋणी इन विद्वानों के भी हैं। 'गृहस्थ पण्डित की रचना' कहकर, इन मनीषियों की रचनाओं की उपेक्षा, विवेकसम्मत नहीं कही जा सकती।

विद्वानों की इस परम्परा के पावन प्रवाह में महामनीषी पण्डित टोडरमलजी का नाम अग्रगण्य है। गृहस्थ होते हुए भी आचार्यकल्प जैसी महामहिम उपाधि से अलंकृत आपका चुम्बकीय व्यक्तित्व, आत्महितैषियों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, चारों अनुयोगों के प्रतिभासम्पन्न अभ्योधा थे। करणानुयोग के महान ग्रन्थ गोम्मटरसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार ग्रन्थों पर लिखी गयी आपकी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक टीकाएँ, आपके विशाल शास्त्राभ्यास को प्रतिबिम्बित करती है, वहीं आपके द्वारा रचित आत्मानुशासन एवं पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ की देशभाषा वचनिका आपके अन्तर में व्याप्त परिणामों की कोमलता का सूचक है।

अनेकों शास्त्रों का मर्म अपने आपमें समेटे हुए पण्डितजी की महान एवं मौलिक

कृति मोक्षमार्गप्रकाशक ने उनकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये। उपलब्ध ग्रन्थ, नौ अधिकारों में विभाजित है, जिसका अन्तिम अधिकार, पण्डितजी की असामायिक देहपरिवर्तन के कारण पूरा नहीं लिखा जा सका। यह ग्रन्थ अपूर्ण होते हुए भी, अपनी विशिष्ट शैली के लिये सम्पूर्ण दिगम्बर जैनसमाज में विशेष ख्यातिप्राप्त है और सम्भवतः किसी गृहस्थ विद्वान की यह प्रथम रचना होगी, जिसका अनवरत प्रकाशन अनेक संस्थाओं द्वारा लाखों की संख्या में हो चुका है और यह क्रम आज भी अनवरतरूप से जारी है। इसी ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेकों जिनमन्दिरों में, सहज उपलब्ध हैं, जो इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ ने अनेक मनीषियों को प्रमोदित किया है। तर्कपूर्ण शैली, सिद्धान्तों की सचोटता उदाहरण के माध्यम से विषयों का प्रस्तुतिकरण एवं सम्भवित शंकाओं का लेखक द्वारा स्वयं उठाकर, किया जानेवाला समाधान, इस ग्रन्थ की ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जिस कारण रचनाकाल से आज तक यह ग्रन्थ, जनसाधारण से लेकर विशिष्ट प्रज्ञापुरुषों के स्वाध्याय का अंग बना हुआ है। इसी ग्रन्थ की शैली से प्रमुदित श्रीमद् राजचन्द्रजी ने उनके द्वारा उल्लखित वाँचनयोग्य सत्श्रुत में इस ग्रन्थ का भी ससम्मान उल्लेख किया है।

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक चर्चित महापुरुष स्वानुभवविभूषित पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्वेताम्बर स्थानकवासी साधुदशा में विक्रम संवत् 1982 में जब यह ग्रन्थ हस्तगत हुआ तो वे इस के अध्ययन से इतने प्रमुदित हुए कि पूरे दिन आवश्यक कार्यों से शीघ्र निवृत्त होकर, इस ग्रन्थ के स्वाध्याय, मनन, चिन्तवन में लीन रहने लगे। इस ग्रन्थ का सातवाँ अधिकार उनके चित्त पर इस तरह छा गया कि उन्होंने उनके साथ रहनेवाले जीवणलालजी महाराज से इसकी नकल उतरवा ली, जिसे वे सदैव अपने साथ रखते थे। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सम्प्रदाय परिवर्तन में समयसार परमागम का जितना महत्त्व है, उससे कम महत्त्व, मोक्षमार्गप्रकाशक का नहीं है। सम्प्रदाय परिवर्तन के पश्चात् गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में स्थापित प्रमुख संस्थाओं—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट; श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं में लाखों की संख्या में किया जा चुका है। इस ग्रन्थ पर, पूज्य गुरुदेवश्री के मंगलमय प्रवचन साररूप में

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें नाम से तीन भागों में; मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन नाम से चार भागों में और मोक्षमार्गप्रकाशक प्रवचन गुजराती, दो भागों में तथा उपलब्ध शब्दश: प्रवचन मोक्ष का स्वतन्त्रमार्ग, दो भागों में प्रकाशित हो चुका है।

पूज्य गुरुदेवश्री के चित्त में इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के प्रति अत्यधिक अहोभाव था और अनेक प्रवचनों में उन्होंने पण्डित टोडरमलजी और मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का बहुत बहुमानपूर्वक स्मरण किया है और अपनी बात को प्रस्तुत करने के लिये पण्डितजी के कथन को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है, जो गुरुदेवश्री के हृदय में इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के प्रति व्याप्त बहुमान को चित्रित करता है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन के प्रेरणास्रोत आदरणीय पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, बुलन्दशहरवाले इस ग्रन्थ की महिमा करते हुए अनेकों बार यह कहते थे कि पण्डित टोडरमलजी जैसा लिखनेवाला और पूज्य गुरुदेवश्री जैसा बोलनेवाला '**न भूतो, न भविष्यति**'। इसके अतिरिक्त वे अपनी कक्षाओं के माध्यम से इस ग्रन्थ का विशेष स्वाध्याय कराते थे, जिसमें उभयाभासी का प्रकरण विशेष उल्लेखनीय है।

वर्तमान में मुमुक्षु समाज एवं संस्थाओं द्वारा आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की 300वीं जन्म-जयन्ती वर्ष सम्पूर्ण देश-विदेश में मनाया जा रहा है। इस वर्ष को पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशक वर्ष के रूप में आयोजित कर, इस ग्रन्थ के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसी अवसर पर, आदरणीय पण्डितजी के प्रति हार्दिक श्रद्धासुमन अर्पित करने एवं उनकी इस अमरकृति का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से, तीर्थधाम मङ्गलायतन अलीगढ़ एवं श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा संयुक्तरूप से अपनी सहभागिता दर्शाते हुए, मोक्षमार्गप्रकाशक के नवीन संस्करण के साथ-साथ, '**मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी**' और '**मोक्षमार्गप्रकाशक दृष्टान्त वैभव**' समर्पित करते हुए, अत्यन्त आह्लादित है।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पर प्रश्नोत्तर शैली में इससे पूर्व भी कार्य हुए हैं, जिनमें पण्डित कैलाशचन्द्रजी बुलन्दशहरवालों द्वारा सप्तम अधिकार पर प्रश्नोत्तरी तथा डॉ उत्तमचन्दजी जैन, सिवनी द्वारा संकलित मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी, पाँच भागों में, विशेष उल्लेखनीय है। इन प्रश्नोत्तरों का लाभ यह होता है कि नवीन श्रोता भी इनके अध्ययन से मोक्षमार्गप्रकाशक

के रहस्य को समझने में सक्षम बनता है और सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त करता है। तदर्थ हम इन दोनों विद्वानों के विशेष आभारी हैं, प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी में इनकी रचनाओं का भी साभार यथासम्भव सहयोग लिया गया है।

प्रस्तुत मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी का संकलन एवं लेखन कार्य डॉ. अरुण जैन, जयपुर एवं पण्डित सचिन जैन, तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा सम्पन्न किया गया है। इस कार्य में आदरणीय बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, जयपुर का विशेष मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त जिन विशिष्ट विद्वानों के सुझाव एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुए—ऐसे डॉ. राकेश शास्त्री, नागपुर; पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया; पण्डित विक्रान्त जैन, झालरापाटन; पण्डित ऋषभ शास्त्री, दिल्ली; पण्डित चर्चित शास्त्री, कोटा; श्रीमती वीना जैन, देहरादून। इन सभी के प्रति भी ससम्मान आभार व्यक्त करते हैं। प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी का सम्पादन कार्य, पण्डित अशोक लुहाड़िया एवं पण्डित सुधीर जैन शास्त्री (तीर्थधाम मङ्गलायतन) ने अत्यधिक लगनपूर्वक किया है, हम मङ्गलायतन के इन विद्वत्द्वय के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी का अध्ययन कर, मोक्षमार्गप्रकाशक की विषयवस्तु से भलीभाँति परिचित हों और मूलग्रन्थ तथा इस पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के अध्ययन हेतु प्रेरित हों – इसी पवित्र भावना के साथ.......

– हितेन सेठ **– पवन जैन**

—श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
—श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

सम्पादकीय

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी के त्रिशताब्दी जन्मजयन्ती के पावन अवसर पर, उनकी अनुपम रचना '**मोक्षमार्गप्रकाशक**' ग्रन्थ पर आधारित, '**श्री मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरमाला**' का प्रकाशन करते हुए, ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** परिवार अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा है। आचार्यकल्प की महामहिम उपाधि से विभूषित पण्डित टोडरमलजी की इस महाकृति से सम्पूर्ण दिगम्बर जैन-समाज भलीभाँति परिचित है।

आदरणीय पण्डितजी ने अपने जीवन काल में जिनागम के अनेक ग्रन्थों का गहनतापूर्वक अध्ययन किया और उसके साररूप इस महान ग्रन्थ का अवतरण उनकी लेखनी के माध्यम से हुआ। जिस समय पण्डितजी ने इस ग्रन्थ की रचना आरम्भ की होगी, उस समय सम्भवत: उन्होंने भी यह विचार नहीं किया होगा कि उनकी यह कृति जन-जन तक इतने व्यापकरूप से प्रचारित-प्रसारित होगी। अनेकों संस्थाओं से इस ग्रन्थ के अनेक भाषाओं में, लाखों की संख्या में प्रकाशन हो चुके हैं तथापि इस ग्रन्थ की माँग निरन्तर बनी रहती है जो इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के करकमलों में विक्रम संवत् 1982 में यह ग्रन्थ प्रथम बार आया और तब से गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में इसका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ, जो अभी तक गतिशील है।

इस ग्रन्थ के व्यापक अध्ययन हेतु साधर्मीजनों को प्रेरित करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ पर आधारित, विशिष्ट प्रश्नोत्तर तैयार कर प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की विषयवस्तु तो सुस्पष्ट होती ही है, साथ ही ग्रन्थ में समागत विशिष्ट अंशोंपर, विशेष ध्यान आकर्षित होता है। इससे पूर्व भी आदरणीय डॉ. उत्तमचन्द जैन, सिवनी एवं अन्य विद्वानों द्वारा भी इस ग्रन्थ पर प्रश्नोत्तरशैली में कार्य किया गया है, जो हमारे इस प्रयास का प्रेरक रहा है।

प्रस्तुत कृति में प्रश्नोत्तरों का संकलन, पण्डित अरुण जैन, जयपुर एवं पण्डित सचिन जैन, तीर्थधाम मङ्गलायतन ने अथक परिश्रम एवं विद्वत्ता के आधार पर किया है। श्री

पवन जैन, अलीगढ़ ने प्रस्तुत कृति को भाषा एवं प्रूफ रीडिंग की दृष्टि से सुव्यवस्थित कर, हमारा उत्साहवर्धन किया है।

प्रस्तुत कृति का निर्देशन, आदरणीय बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, सागर / जयपुर ने पूर्ण मनोयोग एवं परिश्रम से किया है। हम सभी उनके इस सहयोग के लिए हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन से पूर्व इसे डॉ. राकेश शास्त्री, नागपुर; पण्डित देवेन्द्र जैन, बिजौलियां; पण्डित विक्रान्त पाटनी शास्त्री, झालावाड़; पण्डित चर्चित जैन शास्त्री, कोटा; पण्डित ऋषभ जैन शास्त्री, शंकरनगर, दिल्ली एवं श्रीमती वीणा जैन, देहरादून ने मनोयोगपूर्वक अवलोकन कर, अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों से हमें लाभान्वित किया है।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तरमाला में प्रत्येक अधिकार के आधार पर हैडिंग के अनुसार प्रश्नोत्तर का विभाजन किया गया है। जहाँ-जहाँ विषयवस्तु की दृष्टि से गरिष्ठता लगी, वहाँ उन विषयों को विशेष स्पष्ट किया गया है। यदि आत्मार्थी बन्धु इस प्रयास से मोक्षमार्गप्रकाशक के गहन अध्ययन हेतु प्रेरित हुए तो हमारा श्रम सार्थक होगा।

हमें विश्वास है कि पाठक इस कृति का उपयोग अपने आत्मकल्याण की भावना से अवश्य करेंगे और इसके स्वाध्याय से उन्हें अपेक्षित लाभ होगा।

पण्डित अशोक लुहाड़िया
पण्डित सुधीरकुमार जैन 'शास्त्री'
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

विषय-सूची

- इतिहास एवं विषयवस्तु 1

पहला अधिकार : **पीठबन्ध प्ररूपण** [6 से 28]

- मङ्गलाचरण का स्वरूप 7
- अरहन्तों का स्वरूप 9
- सिद्धों का स्वरूप 13
- आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप 14
- पूज्यत्व का कारण 19
- अरहन्तादि से प्रयोजन सिद्धि 21
- मङ्गलाचरण करने का कारण 21
- ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम-परम्परा 22
- अपनी बात 23
- असत्यपद रचना प्रतिषेध 24
- वाँचने-सुननेयोग्य शास्त्र 25
- वक्ता-श्रोता का स्वरूप 25
- मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता 27

दूसरा अधिकार : **संसार अवस्था का स्वरूप** [29-50]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 29
- कर्मबन्धन का निदान 30
- जीव और कर्मों की भिन्नता 34
- घाति-अघातिकर्म और उनका कार्य 35
- नवीन बन्ध विचार 38
- कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव अवस्थाएँ 40

तीसरा अधिकार : **संसार दुःख तथा मोक्ष सुख का निरूपण** [51-66]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 51
- संसारदु:ख और उसका मूलकारण 52
  - (क) कर्मों की अपेक्षा 53
  - (ख) पर्याय की अपेक्षा 59
  - (ग) दु:ख का सामान्य स्वरूप 64
- मोक्ष सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय 65

चौथा अधिकार : **मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण** [67-83]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 67
- मिथ्यादर्शन का स्वरूप 67
- सात तत्त्व सम्बन्धी, जीव की भूल 70
- मिथ्याज्ञान का स्वरूप 76
- मिथ्याचारित्र का स्वरूप 81

पाँचवाँ अधिकार : **अन्यमत निरूपण** [85-98]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 85
- सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म मीमांसा 86

छठा अधिकार : **कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध** [99-110]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 99
- कुदेव का निरूपण 100
- कुगुरु का निरूपण 104
- कुधर्म का निरूपण 108

सातवाँ अधिकार : **जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन** [111-139]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 111
- निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि 114
- व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि 124
- उभयाभासी मिथ्यादृष्टि 133
- सम्यक्त्व-सन्मुख मिथ्यादृष्टि 138
- पाँच लब्धियों का स्वरूप 138

आठवाँ अधिकार : **उपदेश का स्वरूप** [140-151]

- विषयवस्तु 140
- अनुयोगों का प्रयोजन 141
- अनुयोगों का व्याख्यान विधान 142
- अनुयोगों की व्याख्यान की पद्धति 144
- अनुयोगों में दोष कल्पनाओं का निराकरण 147
- अनुयोगों में परस्पर विरोध का निराकरण 148
- अनुयोगों का अभ्यास क्रम 150

नौवाँ अधिकार : **मोक्षमार्ग का स्वरूप** [152-167]

- मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु 152
- आत्मा का हित 153
- मोक्षमार्ग का स्वरूप 156

- **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** (पण्डित टोडरमलजी) 168
- **परमार्थ वचनिका** (पण्डित बनारसीदासजी) 175
- **उपादान-निमित्त की चिट्ठी** (पण्डित बनारसीदासजी) 182

ॐ

❁ नमः सिद्धं ❁

मोक्षमार्गप्रकाशक

प्रश्नोत्तरी

इतिहास एवं विषयवस्तु

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

प्रश्न 1– मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का संक्षिप्त इतिहास क्या है?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने श्री दिगम्बर जैन तेरापंथी बड़ा मन्दिर (टोडरमलजी का मन्दिर), जौहरी बाजार, जयपुर में लिखा था। इस ग्रन्थ की रचना, विक्रम संवत् 1823–24 में हुई। यह ग्रन्थ, नौ अधिकारों में लिखा गया है। किन्हीं कारणों से, पण्डितजी का शरीर पूरा हो गया; अत: नौवाँ अधिकार पूरा नहीं हो सका। इसकी विषयवस्तु के आधार पर, इस ग्रन्थ का विशाल प्रमाण बनना सुनिश्चित था।

इस ग्रन्थ की मूल हस्तलिखित प्रति, बड़े दीवानजी के मन्दिर, जयपुर में आज भी उपलब्ध है। इसकी फोटो प्रतिलिपियाँ, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ में भी उपलब्ध हैं।

हमें प्राप्त जानकारी के अनुसार, मुद्रणयुग में, इसका प्रथम मुद्रित संस्करण सन् 1897 में बाबू ज्ञानचन्दजी जैनी द्वारा लाहौर से प्रकाशित किया गया।

उसके बाद, सन् 1911 में मुम्बई से, सन् 1919 में कलकत्ता से तथा अनेक स्थलों से, मूलभाषा ढूँढ़ारी में प्रकाशन हुआ।

पण्डित लालबहादुर शास्त्री, आगरा ने भाषा रूपान्तरण करके, सन् 1940 में मथुरा से प्रकाशित किया। इनके अतिरिक्त, गुजराती, उर्दू, अंग्रेजी, कन्नड़ आदि भाषाओं में अनुवाद होकर भी यह प्रकाशित हो चुका है।

इसके सुव्यवस्थित, मुद्रित एवं संस्कारित भाषा रूपान्तर के साथ, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ एवं पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा इसके सबसे अधिक संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ द्वारा, सन् 2019 में मूल हस्तलिखित प्रति से पुन: मिलान करके, आवश्यक *सुधारों के साथ, अनेकानेक विद्वानों की सहमतिपूर्वक, नवीन संस्करण प्रकाशित किया गया।

(* सुधारों का विस्तृत वर्णन, तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक की सम्पादकीय में उपलब्ध)

प्रश्न 2– मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की मूलभाषा क्या थी ?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक में प्रयुक्त व्याकरण, ब्रजभाषा की है; इसलिए यह ग्रन्थ, ब्रजभाषा में लिखा कहलाता है। इस भाषा के साथ, ढूँढ़ारीभाषा के शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है; इसलिए इसे ढूँढ़ारी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखित भी कह सकते हैं।

(पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक से साभार)

प्रश्न 3– पण्डित टोडरमलजी ने, मोक्षमार्ग पर प्रकाश डालने के लिए, कौन सी शैली अपनायी है ?

उत्तर – पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने, मोक्षमार्ग पर प्रकाश डालने के लिए, परम्परागत रास्ते को नहीं अपनाया, क्योंकि वे मनोविज्ञान के बड़े ज्ञाता थे।

श्री तत्त्वार्थसूत्र के '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' इस प्रथम सूत्र में ही आचार्य उमास्वामी ने, मोक्षमार्ग की चर्चा आरम्भ कर दी और संसार के दु:खों का वर्णन, तीसरे अध्याय में किया, परन्तु पण्डित टोडरमलजी ने

मोक्षमार्ग का प्रकरण, नौवें अधिकार से प्रारम्भ किया है और संसार के दु:खों की चर्चा, ग्रन्थ के आरम्भ में ही की है। पण्डितजी जानते थे कि दु:ख की स्वीकृति के बिना, सुखी होने के उपाय का उपदेश देना, निरर्थक है।

प्रश्न 4– मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक, कुल नौ अधिकारों (नौवाँ अपूर्ण) में लिखा गया है।

पहला अधिकार – पीठबन्ध प्ररूपण में सम्पूर्ण मोक्षमार्गप्रकाशक के मूलविषय को प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रारम्भ–मंगलाचरण से करके, सच्चे देव–शास्त्र–गुरु (पंच परमेष्ठी) का स्वरूप; प्रयोजनसिद्धि; मंगलाचरण का कारण; ग्रन्थ की प्रामाणिकता व आगम परम्परा; असत्यपद रचना प्रतिषेध; वाँचने–सुननेयोग्य शास्त्र; वक्ता का स्वरूप; श्रोता का स्वरूप बताते हुए, अन्त में जो लोग जिनवाणी की सुलभता होनेपर अथवा उपदेश की सुलभता होनेपर भी, जिनवाणी वाँचने–सुनने से वंचित रहते हैं, उनकी भर्त्सना की गयी है। अन्त में, मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता बतायी गयी है।

दूसरा अधिकार – इसमें संसार अवस्था के स्वरूप का वर्णन करते हुए, कर्मबन्धन का निदान; नवीन बन्ध विचार; कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था; घाति–अघातिकर्म के निमित्त से होनेवाली अवस्थाओं को, करणानुयोग द्वारा सिद्ध किया गया है।

तीसरा अधिकार – इसमें संसारदु:ख तथा मोक्षसुख का निरूपण किया गया है। संसारदु:ख और उसका मूलकारण, कर्मों की अपेक्षा, पर्याय की अपेक्षा; दु:ख का सामान्यस्वरूप बताकर, यहाँ मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति का उपाय बताया है।

चौथा अधिकार – इसमें मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का निरूपण करते हुए, प्रयोजनभूत–अप्रयोजनभूत पदार्थ; सात तत्त्व–पुण्य–पाप सम्बन्धी अयथार्थ श्रद्धान; इष्ट–अनिष्ट की मिथ्या कल्पना; राग–द्वेष का विधान व विस्तार एवं मोह की महिमा का वर्णन किया गया है।

पाँचवाँ अधिकार – इस अन्यमत निरूपण अधिकार में, विभिन्न असत्य

मान्यताओं का निराकरण किया गया है। इस अधिकार में, श्वेताम्बरमत को भी, अन्यमत में लिया गया है।

छठवाँ अधिकार - कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के निषेध स्वरूप इस अधिकार में, गृहीतमिथ्यात्व के निमित्त 'कुदेव-कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप' बताकर, उनकी सेवा आदि का प्रतिषेध किया गया है; तदुपरान्त अनेक युक्तियों द्वारा, उनकी पूजा का भी निराकरण किया गया है।

सातवाँ अधिकार - जैन मिथ्यादृष्टियों के विवेचनसम्बन्धी इस अधिकार में, निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि; व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि; सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप; सप्त तत्त्व का अन्यथारूप; सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का अन्यथारूप प्ररूपण के पश्चात्, उभयाभासी मिथ्यादृष्टि का निरूपण किया गया है। इस अधिकार में, सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों की भी चर्चा की गयी है।

आठवाँ अधिकार - इसमें उपदेश के स्वरूप की चर्चा करते हुए, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—चारों अनुयोगों का प्रयोजन, स्वरूप एवं विवेचनशैली दर्शाते हुए, उनके सम्बन्ध में होनेवाली दोष-कल्पनाओं का निराकरण एवं अनुयोगों की सापेक्ष कथनशैली का समुल्लेख किया गया है, साथ ही आगमाभ्यास करने की प्रेरणा भी दी गयी है।

नौवाँ अधिकार - इसमें मोक्षमार्ग के स्वरूप का निरूपण करते हुए, आत्मा का हित, मोक्ष में ही है और मोक्ष, पुरुषार्थपूर्वक ही प्राप्त किया जा सकता है।—इस निरूपण के बाद, मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों में से, मोक्षमार्ग के कारणभूत सम्यग्दर्शन का भी पूरा विवेचन नहीं लिखा जा सका है।

हमारा दुर्भाग्य है कि असामायिक मृत्यु हो जाने से, ग्रन्थकर्ता इस अधिकार व इस ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सके; फिर भी इस अधिकार में, जो कुछ कथन किया है, वह बहुत ही सरल और सुगम है। उसे हृदयंगम करने से, सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणों का समन्वय सहज हो जाता है और उनके स्वरूप का सामान्य परिचय भी प्राप्त हो जाता है।

परिशिष्ट - मोक्षमार्गप्रकाशक के अन्त में परिशिष्ट हैं, जिनमें, **समाधिमरण का स्वरूप**-पण्डित गुमानीरामजी कृत; **रहस्यपूर्ण चिट्ठी**-पण्डितप्रवर टोडरमलजी कृत; **परमार्थ वचनिका** एवं **उपादान-निमित्त की चिट्ठी**-पण्डित बनारसीदासजी कृत, का भी समावेश किया गया है।

प्रश्न 5- मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का कितना परिमाण (प्रमाण/माप) है ?

उत्तर - प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के बारह हजार श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख, **चर्चासंग्रह** ग्रन्थ में ब्रह्मचारी रायमलजी ने किया है। ज्ञातव्य है कि एक श्लोक का प्रमाण, बत्तीस अक्षर होता है।

—००—

ॐ

❀ नमः सिद्धं ❀

पहला अधिकार
पीठबन्ध प्ररूपण

॥ ॐ नमः ॥

[मंगलाचरण]

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान॥ १ ॥
करि मंगल करिहौं महा, ग्रन्थकरन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज॥ २ ॥

प्रश्न 1- मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से क्यों हुआ है ?

उत्तर - अनादि काल से यह जीव, मिथ्यात्व के कारण, चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। अब (अथ), समयसारस्वरूप शुद्ध-आत्मा के कथन द्वारा, अपना मिथ्यात्व दूर करके, शुद्धता की प्राप्ति करता है; इसलिए यहाँ 'अथ' शब्द, मंगल का वाची है।

प्रश्न 2- 'पीठबन्ध प्ररूपण' का क्या अर्थ है ?

उत्तर - 'पीठबन्ध प्ररूपण' को इस प्रकार समझ सकते हैं; जैसे—हम किसी ऊँची इमारत / मकान/ मन्दिर की स्थापना करते हैं, तो उसकी मजबूती के लिए, नींव अर्थात् पीठिका बनाते हैं। उसी प्रकार मोक्षमार्गप्रकाशक स्वरूप ज्ञानमन्दिर के निर्माण के लिए, पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने पहले अधिकार का नाम, पीठबन्ध प्ररूपण दिया है।

प्रश्न 3- 'पीठबन्ध प्ररूपण' की विषयवस्तु क्या है ?

उत्तर - मङ्गलाचरण के बाद, इसमें अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप; आचार्य -उपाध्याय-साधु परमेष्ठी का सामान्य स्वरूप, विशेष स्वरूप; पूज्यता का कारण; अरहन्तादि से प्रयोजन की सिद्धि; मङ्गलाचरण करने का कारण; ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम परम्परा; अपनी बात; असत्यपद रचना प्रतिषेध; वाँचने-सुननेयोग्य शास्त्र; वक्ता-श्रोता का स्वरूप एवं मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता का उल्लेख किया गया है।

मङ्गलाचरण का स्वरूप

प्रश्न 4- 'मङ्गल' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर - '**मङ्ग**' अर्थात् सुख, उसे लाति अर्थात् देता है अथवा '**मं**' अर्थात् पाप, उसे गालयति अर्थात् गाले, दूर करे, उसका नाम, मङ्गल है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ ४)

प्रश्न 5- ग्रन्थ के मङ्गलाचरण का क्या अर्थ है ?

उत्तर - ग्रन्थ रचना के महान कार्य हेतु, मैं, उस वीतराग-विज्ञान तत्त्व को नमस्कार करता हूँ, जो स्वयं मङ्गलमय है, मङ्गल करनेवाला है, जिससे अरहन्त आदि महान हुए हैं; जिससे निज-चैतन्य में स्थिरतापूर्वक, सुख आदि अनन्त गुणों की प्राप्ति होती है।

सुख देने, दुःख दूर करनेवाले होने से, अरहन्तादि मङ्गल हैं। उनके प्रति भक्तिभाव, उनका स्वरूप-स्मरण, व्यवहार से मङ्गलाचरण है। उनके समान ही अपना निजस्वरूप शुद्ध जानना, अनुभव करना, निश्चय से मङ्गलाचरण है।

(समयसार, गाथा 1, अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका)

प्रश्न 6- 'मङ्गलमय' तथा 'मङ्गलकरण' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - वीतराग-विज्ञान, मङ्गलमय है अर्थात् वर्तमान में सुखरूप है। यह **संवर तथा निर्जरातत्त्व** है। वीतराग-विज्ञान, मङ्गलकरण है अर्थात् भविष्य में भी सुख का हेतु है, वह **मोक्षतत्त्व** है। मङ्गलमय का तात्पर्य, मोक्षमार्ग से है तथा मङ्गलकरण

का तात्पर्य, मार्गफल से है। वीतराग-विज्ञान, तात्कालिक ही नहीं, वरन् स्थायी सुख को देनेवाला है।

प्रश्न 7- मङ्गलाचरण में वीतराग-विज्ञान को कितने विशेषणों से युक्त कहा है?

उत्तर - वीतराग-विज्ञान को मङ्गलमय, मङ्गल का कारण तथा अरहन्तादि महान पदों का जनक—इन तीन विशेषणों से युक्त कहकर, इसे वंद्य अर्थात् पूज्य के स्थान पर रखा है।

प्रश्न 8- वीतराग-विज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तर - वीतरागता का अर्थ, सम्यक्चारित्र है और विज्ञान का अर्थ, सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान है। यह अबाधित नियम हैं कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सद्भाव, सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही सम्भव है। यहाँ वीतराग-विज्ञान को पूज्य कहकर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग को पूज्य कहा गया है। सात तत्त्वों के अन्तर्गत, रत्नत्रय का अन्तर्भाव, संवर, निर्जरा तथा मोक्षतत्त्व में होता है।

प्रश्न 9- वीतराग-विज्ञानता कितने प्रकार से सम्भव है?

उत्तर - वीतराग-विज्ञानता तो एक ही प्रकार की है लेकिन चारित्र में भूमिकानुसार शुद्धि की वृद्धि और कषायों की हीनता के आधार पर, सात भेद किये गये हैं। जिसमें प्रत्येक जीवसामान्य में पायी जानेवाली शक्तिरूप वीतराग-विज्ञानता को मिलाकर, आठ भेद हो जाते हैं। वह इस प्रकार हैं— (1) शक्तिरूप वीतराग-विज्ञानता, जो निगोद से लेकर सिद्धदशा तक, प्रत्येक जीव में पायी जाती है। अरहन्त-सिद्ध अवस्था, वीतराग-विज्ञानता का फल है। (2) चौथे गुणस्थान की वीतराग-विज्ञानता; (3) पाँचवें-छठवें गुणस्थान की वीतराग-विज्ञानता; (4) सातवें गुणस्थान की वीतराग-विज्ञानता; (5) श्रेणी की वीतराग-विज्ञानता; (6) बारहवें गुणस्थान (यथाख्यातचारित्र) की वीतराग-विज्ञानता; (7) अरहन्तदशा की (फलस्वरूप) वीतराग-विज्ञानता; (8) सिद्धदशा की (पूर्ण फलस्वरूप) वीतराग-विज्ञानता।

(पण्डित दौलतरामजी कृत छहढाला ग्रन्थ के प्रथम पद्य पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों से संकलित)

प्रश्न 10- 'जातैं मिलै समाज सब' वाक्य का क्या आशय है ?

उत्तर - पण्डितजी, ग्रन्थ करने (उपलक्षण से पढ़ने-पढ़ाने आदि) के फलस्वरूप, सब समाज की प्राप्ति का होना कहते हैं। इसका निम्न अर्थ है—

प्रथम अधिकार में पंच परमेष्ठी का स्वरूप बताकर, उनको आराध्य सिद्ध किया है। अनादि से इनसे विमुख जीव, इनका स्वरूप समझकर, इस समाज (समूह) की प्राप्ति करता है अर्थात् वह स्वयं परमेष्ठीपद की प्राप्ति करता है; अन्ततोगत्वा वह, सिद्धावस्था की प्राप्ति कर, सिद्धचक्र (सिद्धसमूह; सिद्धसमाज) में जा मिलता है।

परमार्थ से विचारें तो अपने गुणों की परिपूर्ण प्रकटता करता है; गुणों के समूह को प्राप्त करता है।

अरहन्तों का स्वरूप

प्रश्न 11- अरहन्तादि को परमेष्ठी क्यों कहते हैं ?

उत्तर - जिससे प्रयोजन की सिद्धि हो, वह अपने लिये इष्ट है।

इष्टों में जो सर्वश्रेष्ठ, वह परम-इष्ट तथा इष्टों के समुदाय को, इष्टी कहते हैं। चूँकि अरहन्तादि पाँच का समुदाय है, संस्कृत भाषा में पाँच को पंच कहते हैं; अत: अरहन्तादि, पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 5-6)

प्रश्न 12- अरहन्त का स्वरूप, कितने भागों में विभाजित किया गया है ?

उत्तर - अरहन्त का स्वरूप, दो भागों में विभाजित किया गया है—

(1) **जीवाश्रित गुण**—अनन्त ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय तथा शान्तरससहित; राग-द्वेषादि विकारीभावरहित।

(2) **पुद्गलाश्रित गुण**— (i) **संश्लिष्ट सम्बन्ध**—अंगविकार से रहित, परमौदारिक शरीर, धर्मतीर्थ के वचन (दिव्यध्वनि)। (ii) **संयोग सम्बन्ध**—आयुध-अम्बरादि तथा स्त्रीसंगरूप कामभावों के निन्द्यचिह्नों से रहित, 34 अतिशयों तथा प्रातिहार्य आदि वैभव से सहित।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अरहन्तदेव, क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित होते हैं। इन अठारह दोषों में कुछ दोष, जीवाश्रित हैं और कुछ दोष, पुद्गलाश्रित हैं।

प्रश्न 13- 'गृहस्थपना त्यागकर'—इस वाक्य का क्या भाव है?

उत्तर - स्त्री, पुत्र, मकान आदि में अनादि से चले आए, एकत्व-ममत्व आदि भावों को छोड़ना ही, गृहस्थपना त्यागना है।

गृहस्थी में रहने का भाव अर्थात् जिस कारण हम घर आदि में रहना चाहते हैं, उसे गृहस्थपना कहते हैं।

अपने अन्दर अनेक प्रकार के मोह-राग-द्वेष आदि भाव, विद्यमान होने से, अपने सम्बन्धियों के प्रति अनेक प्रकार की जिम्मेदारियों का निर्वाह करने का नाम, गृहस्थपना है।

प्रश्न 14- गृहस्थपना त्यागने की भूमिका कौन-सी है?

उत्तर - प्रथम गुणस्थानवर्ती (मिथ्यादृष्टि) जीव के जैसा गृहस्थपना है, वैसा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (अविरत सम्यग्दृष्टि) के नहीं है क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि की गृहस्थी के प्रति आसक्ति (एकत्वबुद्धि आदि) छूट गयी है। अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा, देशचारित्रवान (पंचम गुणस्थानवर्ती) की आसक्ति (अस्थिरता) और भी घट गयी है और भावलिंगी मुनि (षष्ठादि गुणस्थानवर्ती) के तो गृहस्थपने का पूर्ण अभाव हुआ है।

प्रश्न 15- गृहस्थपना त्यागने का क्या उपाय है?

उत्तर - शरीरादि परपदार्थों से भिन्न, अपने अनादि-निधन, ज्ञानानन्दमयी आत्मतत्त्व में अहं (एकत्व) स्थापित करना ही, गृहस्थपना त्यागने का उपाय है।

प्रश्न 16- मिथ्यादृष्टि जीव का गृहस्थपना किस प्रकार का है?

उत्तर- 'मैं, गृहस्थ हूँ'; 'मैं, मुनि हूँ'; 'मैं, माँ/बाप हूँ' आदि मान्यताएँ, प्रथम स्तर का (मिथ्यादृष्टि का) गृहस्थपना है।

प्रश्न 17- अरहन्तों को, सिद्धों से पहले नमस्कार क्यों किया गया है?

उत्तर - 'अरहन्तों से उपदेशादि का प्रयोजन-विशेष सिद्ध होता है; इसलिए पहले नमन किया।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 05)

यहाँ इतना विशेष है कि वीतरागता एवं सर्वज्ञता—ये दोनों गुण, अरहन्तों एवं सिद्धों में समान हैं लेकिन हितोपदेशपना, केवल अरहन्त परमेष्ठी में ही पाया जाता है, जिससे हमें वस्तुस्वरूप के साथ-साथ, सिद्धों के स्वरूप का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार अपने प्रयोजन के लिए, नमस्कारमन्त्र में, सिद्धों से पहले, अरहन्तों को नमन किया गया है।

प्रश्न 18- अरहन्त भगवान को, सर्व प्रकार से पूजनेयोग्य क्यों कहा गया है?

उत्तर - अरहन्त भगवान (तीर्थंकर), अन्तरंग लक्ष्मी (अनन्त चतुष्टय) तथा बहिरंग लक्ष्मी, समवसरण, अतिशय एवं विभूतियों से सम्पन्न हैं। अरहन्त भगवान, संसारियों में, हर प्रकार से सम्पन्न हैं। निश्चय तथा व्यवहार, दोनों अपेक्षाओं से, उन्होंने श्रेष्ठता को प्रकट किया है; अत: वे सर्व प्रकार से पूजनेयोग्य हैं।

ज्ञातव्य है कि मानस्तम्भादि बहिरंग विभूतियों को देखकर ही, इन्द्रभूति गौतम-जैसे विरोधी भी नम्रीभूत हो गये थे।

प्रश्न 19- परमौदारिक शरीर क्या है?

उत्तर - 'यहाँ केवलज्ञान होनेपर, ऐसा ही कर्म का उदय हुआ, जिससे शरीर ऐसा हुआ कि उनको भूख प्रकट होती ही नहीं। जिस प्रकार केवलज्ञान होने से पहले, केश-नख बढ़ते थे, अब नहीं बढ़ते; छाया होती थी, अब नहीं होती; शरीर में निगोद था, अब उसका अभाव हुआ।

शरीर की उक्त वर्णित दशा होनेपर, वह परमौदारिक शरीर नाम पाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 150)

प्रश्न 20- 'अरहन्तों के स्वरूप' में लिखा है—'निज स्वभाव साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए'—इस वाक्य का क्या रहस्य है?

उत्तर - 'एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है'—यह वस्तु स्वातन्त्र्य ही

जैनशासन की नींव है; अत: परमार्थत: अरहन्त भगवान, भावघातिकर्मों के नाश के कर्ता तो हैं परन्तु ज्ञानावरणादि द्रव्यघातिकर्मों के नाश के कर्ता कदापि नहीं हैं क्योंकि ज्ञानावरणादि तो पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। जब जीव, पुद्गल को स्पर्श ही नहीं सकता, तो फिर कुछ करने का सवाल ही कहाँ रहा?

अरहन्त भगवान, अल्पज्ञता, अल्पदर्शिता आदि भावकर्मों का अभाव और सर्वज्ञता आदि अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति स्वयं से करते हैं क्योंकि ये अरहन्त भगवान की अपनी पर्यायें हैं। जीव, अपनी पर्याय का तो कर्ता है परन्तु परद्रव्य का कर्ता कदापि नहीं हो सकता; व्यवहारनय से कर्ता कहा जाता है। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाने के लिए, 'अरहन्तों ने घातिकर्मों का नाश किया'—ऐसा उपचार से कहा जाता है।

यह भी उल्लेखनीय है कि अनन्त चतुष्टय प्रकट करने के लिए, जीव अपनी पर्यायों में भी कुछ नहीं करते हैं। वे, मात्र निजस्वभाव में ही उत्तरोत्तर स्थिर होते रहते हैं और पर्यायों में शुद्धता प्रकट होती जाती है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 2)

प्रश्न 21– चार घातिकर्मों को क्षय करके, अथवा चार अघातिकर्मों के भस्म होनेपर इनका क्या अर्थ है।

उत्तर– वास्तव में, कर्म—घाति अथवा अघाति, पुद्गल परमाणुओं की कर्मरूप अवस्था है। परमाणु अर्थात् पुद्गलद्रव्य, जिसका कभी नाश नहीं होता है। उक्त दोनों कथनों में 'क्षय करके अथवा भस्म होनेपर' का अर्थ जो परमाणु घाति–अघातिकर्मरूप परिणमित हुए थे, वे अब अपनी वर्तमान अवस्था को छोड़कर, अकर्मरूप परिणमित हो गये अथवा वे किसी अन्य वर्गणा अथवा मूल पुद्गलवर्गणा / परमाणु / स्कन्ध अन्य दूसरी कर्मप्रकृति के साथ हो गये।

कर्मफल उत्पन्न होने के अनन्तर समय में, उन कर्मरूप पुद्गलों में अनुभागशक्ति का अभाव होने से, कर्मत्व का अभाव होता है तथा वे पुद्गल, अन्य पर्यायरूप परिणमित होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 30)

सिद्धों का स्वरूप

प्रश्न 22- सिद्धों का स्वरूप क्या है?

उत्तर - .....चार अघातिकर्मों का नाश होनेपर, ऊर्ध्वगमन स्वभाव से, चरम-शरीर से किंचित् न्यून, पुरुषाकारवत्, लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हुए हैं; जिनके समस्त प्रकार के कर्मों का अभाव हुआ है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 2)

'साधनेयोग्य जो अपना शुद्धस्वरूप, उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब समान हैं।' —'वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द स्थान पर हैं।' (श्री समयसार, गाथा-1, आत्मख्याति टीका)

प्रश्न 23- 'अरहन्त भगवान, कुछ समय बाद सिद्ध होते हैं'—इस वाक्य में 'कुछ समय बाद का' क्या अर्थ है?

उत्तर - अरहन्त बनने के बाद, जितना आयुकर्म शेष है, उतने समय तक इसी दशा में रहकर, इसके बाद वे सिद्ध होते हैं।

यहाँ आयुकर्म, कम से कम अन्तर्मुहूर्त शेष हो सकता है तथा अधिक से अधिक, आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम, एक कोटि पूर्व वर्ष भी हो सकता है। मध्य के सम्पूर्ण भेद भी इसी में गर्भित समझना चाहिए।

इस आयुकर्म के समय की समाप्ति पर ही, अरहन्त, सिद्धभगवान बनते हैं। यह 'कुछ समय बाद' का अर्थ / भाव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 2)

प्रश्न 24- 'चरम-शरीर से किंचित् न्यून, पुरुषाकारवत्, आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ'—इस वाक्य का क्या भाव है?

उत्तर - जिस पुरुष शरीर से, सिद्धदशा की प्राप्ति होती है, वह उनका अन्तिम (चरम) शरीर होता है। शरीर के अनेक अवयवों में, कितना ही स्थान रिक्त होता है; सिद्धदशा होनेपर, आत्मप्रदेश, इन रिक्त स्थानों पर जाकर, ठोस घनपिण्ड हो जाते हैं; अतः आत्मा का आकार, चरम-शरीर से कुछ न्यून (कम) हो जाता है। यह चरम-शरीर, नियम से पुरुष का ही होता है; इसलिए इसकी समाप्ति के बाद भी, आत्मा का आकार, सदा-सदा के लिए पुरुषाकार ही रहता है।

यह, उक्त वाक्य का अर्थ है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 2)

प्रश्न 25- सिद्धभगवान के स्वरूप में 'निष्पन्न हुए' कहने का क्या कारण है?

उत्तर - निष्पन्न का अर्थ, परिपूर्ण है। सिद्धभगवान, कृतकृत्य हो चुके हैं; अत: उन्हें निष्पन्न कहा गया है।

प्रश्न 26- सिद्धभगवान के किन-किन कर्मों का अभाव हुआ है तथा उनके अभाव में, कौन-कौन से गुण प्रकट हुए हैं?

उत्तर - अरहन्त भगवान ही, बाद में सिद्धभगवान बनते हैं; अत: उनके जिन भावकर्मों और चार द्रव्यकर्मों का अभाव हुआ था, वह तो यहाँ (सिद्धदशा में) भी है, इसके अतिरिक्त शेष चार अघातिकर्मों तथा नोकर्मों का भी, इनके पूर्णतया अभाव हो गया है—इस प्रकार सिद्धभगवान के सम्पूर्ण कर्मों का अभाव है। कर्मों के अभाव में प्रकट हुए, उनके गुण, निम्नलिखित हैं—

घाति द्रव्यकर्म का नाम	कर्म के अभाव में प्रकट होनेवाला गुण	अघाति द्रव्यकर्म का नाम	कर्म के अभाव में प्रकट होनेवाला गुण
ज्ञानावरणकर्म,	अनन्त ज्ञान / केवलज्ञान,	वेदनीयकर्म	अव्याबाधत्व,
दर्शनावरणकर्म,	अनन्त दर्शन / केवलदर्शन,	आयुकर्म	अवगाहनत्व,
मोहनीयकर्म,	क्षायिकसम्यक्त्व,	नामकर्म	सूक्ष्मत्व / अमूर्तिकत्व,
अन्तरायकर्म,	अनन्त वीर्य	गोत्रकर्म	अगुरुलघुत्व।

सिद्धभगवान के ये आठ गुण तो कर्म की अपेक्षा से कहे जाते हैं; वास्तव में तो वे, अनन्त गुण-सम्पन्न हैं; उनके सभी गुणों का परिपूर्ण शुद्धपरिणमन हो गया है, उन्हें आत्मवैभव की परिपूर्ण उपलब्धि हो गयी है, वे अब अनन्त -सम्पदा के स्वामी हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 2)

आचार्य-उपाध्याय-साधु का सामान्य स्वरूप

प्रश्न 27- आचार्य-उपाध्याय-साधु, क्या एकलविहारी भी हो सकते हैं?

उत्तर - छहढालाजी में पण्डित दौलतरामजी ने छठवीं ढाल के सातवें छन्द की दूसरी पंक्ति में— ***'मुनि साथ में वा एक विचरें, चहैं नहिं भव सुख कदा'*** कहा है।

यह कथन, चतुर्थकालापेक्षा किया गया है। वहाँ वज्रवृषभनाराच संहननयुक्त एवं तद्भवमोक्षगामी जीवों को ही एकलविहारी होने की आज्ञा दी गयी है।

पंचम काल में, मुनियों के एकलविहारी होने का स्पष्ट निषेध है। मुनियों का उत्कृष्ट आचरण बतानेवाले **ग्रन्थराज मूलाचार में वट्टकेराचार्य** ने कहा है— यथा— ***'मा भूत मे सत्तु एगागी'***। इसका अर्थ ऐसा है कि मेरा शत्रु भी एकाकी न होओ—ऐसी भावना व्यक्त की है।

प्रश्न 28- आचार्य-उपाध्याय-साधु के सामान्यस्वरूप का निश्चय और व्यवहार पक्ष, तालिका द्वारा स्पष्ट करें?

उत्तर-

पक्ष	आचार्य, उपाध्याय, साधु का सामान्यस्वरूप	आचार्य	उपाध्याय	साधु
निश्चय-पक्ष	अन्तरंग में शुद्धोपयोग द्वारा, अपने को आपरूप अनुभव करते हैं।	निर्विकल्प स्वरूपा-–चरण में मग्न रहते हैं।	समस्त शास्त्रों का सार, आत्मस्वरूप में एकाग्रता, उसी में लीनता।	आत्मस्वभाव को साधते हैं।
व्यवहार-पक्ष	कदाचित् शुभोपयोग भी होता है, उसे हेय मानते हैं। अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है। 28 मूलगुणों का अखण्डित पालन, आरम्भ –परिग्रह से रहित, ज्ञान–ध्यान में लीन, सांसारिक प्रपंचों से दूर रहते हैं।	सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अधिकता से, प्रधानपद को प्राप्त; मुनिसंघ के नायक; दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित् देते हैं।	बहुत जैनशास्त्रों के ज्ञाता, पठन–पाठन के अधिकारी, 12 अंग के पाठी हैं।	तपश्चरणादि बाह्य–क्रियाओं में तथा कदाचित् भक्ति–वन्दनादि में प्रवृत्ति।

प्रश्न 29- मुनिधर्म क्या है?

उत्तर- जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म

अंगीकार करके, अन्तरंग में तो, उस शुद्धोपयोग द्वारा, अपने को आपरूप अनुभव करते हैं; परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव ही को अपना मानते हैं; परभावों में ममत्व नहीं करते तथा जो परद्रव्य व उनके स्वभाव, ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें राग-द्वेष नहीं करते।

विशेष यह है कि पण्डितजी ने, 'शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके,' इस वाक्य में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में, तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक हुई शुद्धि (शुद्धोपयोग), मुनिधर्म है; शरीर की क्रिया, पंच महाव्रत, 28 मूलगुण का शुभभाव, निश्चय से मुनिधर्म नहीं है। शुद्धोपयोग और शरीर की क्रिया, पंच महाव्रत, 28 मूलगुण का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रश्न 30- 'शुद्धोपयोग के बाह्यसाधन हैं, उनमें अनुराग करते हैं'—इस वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर - शुद्धोपयोग के पूर्व वर्णित बाह्यसाधन, नियम से होने के कारण, इन्हें तात्कालिक प्रयोजनभूत कहा जाता है। इन कारणों को हस्तावलम्बन जानकर, बाह्यसाधनों को अंगीकार किया जाता है। वास्तव में मुनिधर्म का उत्सर्गमार्ग, शुद्धोपयोग ही है; अपवादमार्ग, शुभोपयोग है, जो शुद्धोपयोग की प्राप्ति होनेपर, स्वयं ही छूट जाता है।

प्रश्न 31- 'मुनिराज, अपने योग्य बाह्यक्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है; खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को बहुत नहीं भ्रमाते हैं' वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर - समस्त जैन-मुनियों की अन्तरंगदशा समान होती है और वह सकलचारित्ररूप है। मुनियों की बहिरंगदशा भी समान होती है और वह अट्ठाईस मूलगुण के पालनरूप है। ऐसा होनेपर भी, सबके औदयिकभाव, पुरुषार्थ आदि न्यारे -न्यारे हैं। जैसे-कोई भोजन करने का विकल्प करें, कोई ऐसा विकल्प न करें। संघस्थ इतने मुनि, अनशन कर रहे हैं; अत: मैं भी करूँ-ऐसा भाव आना, मुनि

को जरूरी नहीं है। कोई प्राप्त ऋद्धि का प्रयोग करें अथवा कोई नहीं करें; कोई मुनि, पद्मासन में ध्यानस्थ हों अथवा कोई खड्गासन में। इन समस्त विविधताओं के बीच में कोई मुनि, किसी भी प्रकार का हीन अथवा महन्तभाव उत्पन्न नहीं करते हैं; सहजता ही मुनिजीवन है। मुनिगण का ध्येय तो प्रचुर स्वसंवेदन (शुद्धोपयोग) है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मूलमर्यादा का लोप नहीं होता है।

प्रश्न 32– 'मुनि, वनखण्डादि में वास करते हैं' इस वाक्य में 'आदि' जोड़ने का क्या अभिप्राय है?

उत्तर – इस सम्बन्ध में **श्री गुणभद्राचार्यकृत आत्मानुशासन** में ऐसा कहा है कि – कलिकाल में तपस्वी, मृग की भाँति, इधर–उधर से भयभीत होकर, वन से, नगर के समीप बसते हैं, यह महाखेदकारी कार्य है। यहाँ नगर के समीप ही रहने का निषेध किया तो नगर में रहना, तो निषिद्ध हुआ ही। (श्लोक 197)

अन्य ग्रन्थों में भी इस बात की पुष्टि मिलती है—तत्त्वार्थसूत्र में **शून्यागार** तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में '**गृहतो मुनिवनमित्वा**' कहकर; प्राचीन ग्रन्थों में भी मुनियों के रहने का स्थान गिरि, कोटर, गुफा, नदी के किनारे, श्मशान तथा वनखण्डादि में ही कहा है।

प्रश्न 33– तत्त्वार्थसूत्र आदि शास्त्रों में, मूलगुण की विराधना करनेवाले, पुलाकमुनि को भी भावलिंगी कहा गया है—इसका स्पष्टीकरण करें।

उत्तर – यहाँ विराधना का अर्थ, मात्र अतिचार लगना ही है; अनाचार होना कदापि नहीं। अनाचार होनेपर ही, गुणों की संख्या कम हो सकती है; अतिचार में नहीं।

तत्त्वार्थबोध ग्रन्थ में, पण्डित बुधजनजी ने कहा है कि किसी क्षेत्र या काल के वश, किसी मूलगुण में विराधना हो जाए तो वहाँ अतिचार दोष ही लगता है और कुछ समय के लिये मूलगुण की व्यक्त भावना भी रुद्ध हो जाती है। उदाहरण के लिए चावल, तुषसहित है, यह, उसमें दोष है; चावल का अभाव नहीं हुआ है।

उसी प्रकार भावलिंगी पुलाकमुनि को किसी मूलगुण में अतिचार का दोष ही लगता है, व्रत में दूषण ही लगता है लेकिन व्रत का भंग नहीं होता। व्रत और गुण, सर्वथा अस्तित्वहीन नहीं हो जाते।

प्रश्न 34– अट्ठाईस से कम मूलगुण होनेपर भी, क्या श्रमणत्व सम्भव है?

उत्तर – जिस प्रकार श्रावक के आठ से कम मूलगुण होनेपर, श्रावकत्व सम्भव नहीं है; उसी प्रकार मुनिधर्म में भी अट्ठाईस मूलगुणों का ग्रहण और पालन करना परमावश्यक है।

पण्डितजी ने स्वयं पृष्ठ 3 पर लिखा है कि जो अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं—ऐसे जैनमुनि हैं, उन सब की ऐसी ही अवस्था होती है।

पंचाध्यायी के श्लोक नं. 743 में कहा गया है कि—मुनि के लिये, वृक्ष की जड़–समान, मुनि के लिये, मूलभूत अट्ठाईस मूलगुण होते हैं तथा इन अट्ठाईस में से मुनियों के वे मूलगुण किसी भी समय, न कोई एक भी कम और न अधिक होते हैं; नियम से हर समय 28 ही होते हैं।

प्रश्न 35– अरहन्त के स्वरूप को विचार करते हैं; सिद्धों के स्वरूप को ध्याते हैं तथा आचार्य-उपाध्याय-साधु के सामान्य स्वरूप में अवलोकन करते हैं—इन तीन शब्दों का भाव क्या है?

उत्तर – अरहन्त भगवान, विचार के ही विषय हैं; ध्यान के नहीं। अरहन्त भगवान, हमारे बीच में ही वर्तते हैं तथा संसारी होने से, दृश्य भी हैं परन्तु यह अवस्था अभी अपूर्ण है तथा अभी भी 85 कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी हैं; अत: अरहन्त अवस्था, आदर्श नहीं है और इन कारणों से, अरहन्त भगवान, ध्येय भी नहीं हैं; अत: अरहन्त के स्वरूप में, विचार करते हैं – ऐसा लिखा है।

सिद्ध–अवस्था, तीनों कर्मों (द्रव्यकर्म, नोकर्म एवं भावकर्म) से मुक्त होने से, आदर्श है। जैसा आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है, वैसी ही पर्याय में प्रकटता जहाँ होती है, उसी को सिद्ध–अवस्था कहते हैं। सिद्धों की पर्याय को जानकर ही, अपने आत्मा की सम्पूर्ण सामर्थ्य जानकर, उसका आश्रय भी कर सकते

हैं। इन कारणों से सिद्धों का स्वरूप, ध्यान का विषय बताया गया है; अत: सिद्धों के स्वरूप में, ध्याते हैं – ऐसा लिखा है।

आचार्य-उपाध्याय-साधु, तीनों सामान्य से मुनि (साधु) ही हैं। जिनवाणी का कथन है कि इस काल के अन्त तक, भरतक्षेत्र में, इन तीनों का सर्वथा लोप नहीं होगा। उनकी संख्या नगण्य होनेपर व भरतक्षेत्र के बहुत विशाल होने से, दुर्लभ होनेपर भी, किसी पुण्यशाली जीव को आज भी, उनका अवलोकन (दर्शन) हो सकता है। साधकदशा होने के कारण, वे विविध औदयिकादि भावों सहित हैं; इस कारण, आचार्य-उपाध्याय-साधु के सामान्य- स्वरूप में, अवलोकन करते हैं – ऐसा लिखा है।

वास्तविकता तो यह है कि विचार के विषय तो अरहन्त, सिद्ध, साधु आदि समस्त द्रव्य हैं। सिद्धभगवान, ध्यान के ही नहीं, वरन् विचार के भी विषय हैं।

पूज्यत्व का कारण

प्रश्न 36– पंच परमेष्ठियों के पूज्य होने का क्या कारण है?

उत्तर – जीवतत्त्व की अपेक्षा तो सर्व ही जीव, समान हैं परन्तु रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव, निन्दायोग्य होते हैं और रागादि की हीनता से व ज्ञान की विशेषता से, स्तुतियोग्य होते हैं; वहाँ अरहन्त-सिद्धों के तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से, सम्पूर्ण वीतराग-विज्ञान भाव, सम्भव होता है और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को एक देश रागादि की हीनता और ज्ञान की विशेषता होने से, एक देश वीतराग-विज्ञान सम्भव होता है; इसलिए उन अरहन्तादि (पंच परमेष्ठियों) को स्तुतियोग्य (पूजनीय) महान जानना।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 4)

प्रश्न 37– अरहन्तादि इष्ट कैसे हैं?

उत्तर – जिसके द्वारा, सुख उत्पन्न हो तथा दु:ख का विनाश हो, उस कार्य का नाम, प्रयोजन है और जिसके द्वारा उस प्रयोजन की सिद्धि हो, वही अपना इष्ट है, सो हमारे इस अवसर में, वीतराग-विशेषज्ञान का होना, वही प्रयोजन है क्योंकि उसके

द्वारा निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दु:ख का नाश होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 6)

अरहन्त आदि से प्रयोजन सिद्धि

प्रश्न 38– अरहन्त आदि से अपने प्रयोजन की सिद्धि, कैसे होती है?

उत्तर – अरहन्तादि के प्रति जो स्तवनादिरूप भाव होते हैं, वे कषायों की मन्दतासहित ही होते हैं। पुनश्च वे, समस्त कषाय मिटाने के साधन हैं; इसलिए शुद्धपरिणाम के भी साधन हैं। जितने अंशों में कषाय की मन्दता, उतने अंशों में आकुलता की कमी, तथा जितने अंशों में कषाय का अभाव, उतने अंशों में आकुलता का अभाव। आकुलता का घटना ही सुख है। इस प्रकार सुखरूप प्रयोजन की सिद्धि, अरहन्तादि से होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 6-7)

प्रश्न 39– 'जो किंचित् विनय करनेयोग्य हैं, उनकी यथायोग्य विनय करता हूँ' वाक्य का आशय स्पष्ट करें।

उत्तर – चैत्यालय, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक आदि द्रव्य; तीर्थक्षेत्र आदि क्षेत्र; कल्याणक–काल आदि काल तथा रत्नत्रय आदि भाव; जो मेरे नमस्कार करनेयोग्य हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ तथा जो किंचित् विनय अर्थात् अपने समान तथा अपने से नीचे गुणस्थानवर्ती ज्ञानी–महात्माओं की यथायोग्य विनय करता हूँ।

इससे पूर्व, पाँचों परमेष्ठी, जिनबिम्ब, जिनवाणी, जिनालय, तीर्थक्षेत्र आदि सभी एक ही श्रेणी में आते हैं; अत: नमस्कार / नमोस्तु / वन्दना करनेयोग्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 5-6)

उत्कृष्ट श्रावक तथा श्राविकाओं (दसवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी) को इच्छामि / इच्छाकार करके, विनय करना चाहिए। ये गृहस्थ होने से, इनकी पंच परमेष्ठी आदि के समान, अष्ट द्रव्य से भक्ति सम्भव नहीं है। (सूत्रपाहुड़, गाथा 13)

साधारण, जघन्य तथा मध्यम श्रावक तथा श्राविका, **'जय-जिनेन्द्र'** कहकर, विनय करनेयोग्य हैं।

प्रश्न 40– जीव के सामान्यरूप से कितने परिणाम होते हैं तथा उनका क्या फल है ?

उत्तर – जीव के सामान्यरूप से तीन परिणाम होते हैं। उनको तथा उनके फल को हम निम्न तालिका द्वारा समझ सकते हैं —

परिणाम	फल	
	घातिकर्म	अघातिकर्म
संक्लेश–अशुभ	तीव्रबन्ध	असातादि पापप्रकृतियाँ
विशुद्ध–शुभ	मन्दबन्ध	सातादि पुण्यप्रकृतियाँ
शुद्ध	बन्ध नहीं; संवर, निर्जरा तथा मोक्ष	

प्रश्न 41– विशुद्धपरिणाम से क्या-क्या फल मिलते हैं ?

उत्तर – विशुद्ध (शुभ) परिणाम से, निम्न फलों की प्राप्ति होती है —

(1) घातिकर्म में मन्दबन्ध और अघातिकर्म में पुण्यबन्ध;

(2) विशेष शुभभाव से, पूर्व में बँधे, पापकर्मों की मन्दता (अपकर्षण);

(3) विशेष शुभभाव से, पूर्व में बँधे, पापकर्म का पुण्यरूप परिवर्तन (संक्रमण);

(4) शुद्धभाव की सुलभता।

मङ्गलाचरण करने का कारण

प्रश्न 42– जिनशासन के भक्त-देवादि, मङ्गल करनेवालों की सहायता और मङ्गल न करनेवालों को दण्ड क्यों नहीं देते हैं ?

उत्तर – जीवों को सुख–दुःख होने का प्रबल कारण, उनके कर्म का उदय है, उस ही के अनुसार बाह्य निमित्त बनते हैं; इसलिए जिसके पाप का उदय हो, उसको सहाय का निमित्त नहीं बनता और जिसके पुण्य का उदय हो, उसको दण्ड का निमित्त नहीं बनता।

जो देवादि हैं, वे क्षयोपशमज्ञान से सबको युगपत् नहीं जान सकते; इसलिए

मंगल करनेवाले और नहीं करनेवाले का जानपना, किसी देवादि को, किसी काल में होता है; इसलिए यदि उनका जानपना न हो, तो कैसे सहाय करें अथवा दण्ड दें और यदि जानपना हो, तब स्वयं को जो अति मन्दकषाय हो तो सहाय करने के या दण्ड देने के परिणाम ही नहीं होते तथा तीव्रकषाय हो तो धर्मानुराग नहीं हो सकता तथा मध्यमकषायरूप वह कार्य करने के परिणाम हुए और अपनी शक्ति न हो तो वे (देवादि) क्या करें?

इस प्रकार सहाय करने का या दण्ड देने का, निमित्त नहीं बनता।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 9)

प्रश्न 43- मङ्गलाचरण करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?

उत्तर - मङ्गलाचरण करने से निम्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं—

(1) बिना विघ्न के, ग्रन्थ की समाप्ति हो;

(2) पाप के कारण कोई विघ्न न हो;

(3) मोह की मन्दता बनी रहे;

(4) वीतराग तत्त्वज्ञान का पोषण हो। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 6-8)

ग्रन्थ की प्रामाणिकता और आगम-परम्परा

प्रश्न 44- इस प्रकरण में पण्डित टोडरमलजी ने 'अंगप्रकीर्णक' शब्द का उल्लेख किया है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर - गणधर भगवान, अंगप्रकीर्णक के रूप में, समग्र द्रव्यश्रुत की रचना करते हैं।

द्रव्यश्रुत, दो भागों में विभाजित है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। इसमें अंगप्रविष्ट के भेद, 12 अंग हैं तथा अंगबाह्य के अनेक भेद हैं।

'श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्' (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1, सूत्र-20)

अंगबाह्य के 14 प्रकीर्णकरूप भेद कहे जाते हैं। इस प्रकार अंगप्रकीर्णक कहकर, समग्र द्रव्यश्रुत की तरफ संकेत किया गया है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 10)

प्रश्न 45- पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की प्रामाणिकता का, क्या आधार दिया है ?

उत्तर - ग्रन्थ की प्रामाणिकता, दिव्यध्वनि तथा आर्षसम्मत ग्रन्थों के अनुसारी वचनों से होती है।

श्री समयसारजी के मङ्गलाचरण में '**सुदकेवली भणिदं**' कहकर; श्री नियमसारजी के मङ्गलाचरण में '**केवलि सुदकेवली भणिदं**' कहकर; श्री छहढालाजी में '**पै कछु कहूँ कही मुनि यथा**' कहकर; इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी अपनी वाणी को भगवान की वाणी का अनुसरण करनेवाली कहकर ही, प्रमाणता की कसौटी बतायी गयी है।

पण्डितजी ने भी उसी शैली से, अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता का आधार—अरहन्त भगवान, गणधरदेव तथा आचार्यादि की परम्परा का निर्वाहन बताया है।

प्रश्न 46- 'श्रुत' किसे कहते हैं ?

उत्तर - 'सत्यार्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम, श्रुत है, जो अनादिनिधन है। जैसे –'जीव'–ऐसा अनादिनिधन पद है। ऐसे अनादिनिधन सत्यार्थ प्रतिपादक पदों के समूह को श्रुत कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-10)

अपनी बात

प्रश्न 47- आचार्यकल्प टोडरमलजी ने, अपनी बात प्रकरण में क्या बात कही ?

उत्तर - आचार्यकल्प टोडरमलजी ने बताया है कि उन्हें भी किंचित् सत्यार्थपदों का ज्ञान हुआ है। पण्डितजी कहते हैं हमने इस काल में यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की, इसमें हमारे पूर्व संस्कार से व भली होनहार से, जैनशास्त्रों के अभ्यास करने का उद्यम हुआ; जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके, टीकासहित समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र, और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र, और

श्रावक–मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र, और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र – इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है।

जिस प्रकार प्राकृत–संस्कृत शास्त्रों में, प्राकृत–संस्कृत पद लिखे जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ अपभ्रंशसहित अथवा यथार्थतासहित देशभाषारूप पद लिखते हैं परन्तु अर्थ में व्यभिचार कुछ नहीं है।

असत्यपद रचना प्रतिषेध

प्रश्न 48– मोक्षमार्गप्रकाशक की रचना तक, सत्यार्थ पदों की रचना होती आयी; असत्यार्थपद नहीं मिले—यह हम कैसे जानें?

उत्तर – असत्यार्थ पदों की रचना, अति तीव्रकषाय हुए बिना नहीं बनती, क्योंकि जिस असत्य रचना से, परम्परा अनेक जीवों का महा बुरा हो और स्वयं को ऐसी महा –हिंसा के फलरूप नरक–निगोद में गमन करना पड़े – ऐसा महा–विपरीत कार्य तो क्रोध, मान, माया, लोभ के अत्यन्त तीव्र होनेपर ही होता है किन्तु जैनधर्म में तो ऐसा कषायवान होता नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 11–12)

प्रश्न 49– यदि कोई जैनाभास, तीव्रकषायी होकर, असत्यार्थ पदों को जैनशास्त्रों में मिलाए और फिर उसकी परम्परा चलती रहे, तो क्या किया जाए?

उत्तर – जैसे–कोई सच्चे मोतियों के गहने में, झूठे मोती मिला दे, परन्तु (उनमें सच्चे मोतियों जैसी) झलक नहीं मिलती; इसलिए परीक्षा करके, पारखी ठगाता भी नहीं है; कोई भोला हो, वही मोती के नाम से ठगा जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई, झूठे मोतियों का निषेध करता है।

उसी प्रकार कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैनशास्त्र में, असत्यार्थ पद मिलाए, परन्तु जैन–शास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाए हैं, उनमें कषाय का पोषण करने का तथा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है; इस प्रकार प्रयोजन नहीं मिलता; इसलिए परीक्षा करके, ज्ञानी ठगाता भी नहीं; कोई

मूर्ख हो, वही जैनशास्त्र के नाम से ठगा जाता है तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती; शीघ्र ही कोई [ज्ञानी], असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।

पुनश्च, ऐसे तीव्रकषायी जैनाभास, यहाँ इस निकृष्ट काल में ही होते हैं; उत्कृष्ट क्षेत्र -काल बहुत है, उनमें तो ऐसे होते नहीं; इसलिए जैनशास्त्रों में असत्यार्थ पदों की परम्परा नहीं चलती – ऐसा निश्चय करना।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-12)

वाँचने-सुनने योग्य शास्त्र

प्रश्न 50- वाँचने-सुनने योग्य शास्त्र कौन-से हैं?

उत्तर - जो शास्त्र, मोक्षमार्ग का प्रकाश करें, वे ही शास्त्र वाँचन-सुनने योग्य हैं। वहाँ मोक्षमार्ग, एक वीतरागभाव है; इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष -मोह भावों का निषेध करके, वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, उन्हीं शास्त्रों का वाँचना-सुनना उचित है।

साक्षात् अथवा परम्परा से, वीतरागभाव के पोषक शास्त्र ही, वाँचने-सुनने योग्य हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 14)

वक्ता-श्रोता का स्वरूप

प्रश्न 51- 'वक्ता' संज्ञा के योग्य कौन हैं?

उत्तर - सम्यग्ज्ञानी ही 'वक्ता' संज्ञा के योग्य होता है। भगवान अरहन्तदेव एवं गणधरदेव, सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं।

जो बुद्धि-ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि-मन:पर्यय-केवलज्ञान के धनी वक्ता हैं, उन्हें महान वक्ता जानना—ऐसे वक्ताओं के विशेषगुण जानना।

वहाँ यदि इन विशेषगुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत भला है ही और न मिले, तो श्रद्धानादि गुणों के धारी, वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 16)

प्रश्न 52- वक्ता कैसा होना चाहिए ?

उत्तर - जो जैन-श्रद्धान में दृढ़ हो, क्योंकि यदि स्वयं अश्रद्धानी हो तो औरों को श्रद्धानी कैसे करे ?

— जिसे विद्याभ्यास से शास्त्र वाँचनेयोग्य बुद्धि प्रकट हुई हो;

— जो सम्यग्ज्ञान द्वारा, सर्व प्रकार के व्यवहार-निश्चयादिरूप व्याख्यान का अभिप्राय पहचानता हो;

— जिसे जिन-आज्ञा भंग करने का भय बहुत हो;

— जिसको शास्त्र वाँचकर, आजीविका आदि लौकिककार्य साधने की इच्छा न हो;

— जिसको तीव्र क्रोध-मान आदि नहीं हों;

— जो स्वयं ही नाना प्रश्न उठाकर, स्वयं ही उत्तर दे सके;

— जिसके अनीतिरूप लोकनिन्द्य कार्यों की प्रवृत्ति न हो;

— जिसका कुल, हीन न हो; अंग हीन न हो; स्वर भंग न हो; मिष्ठ वचन हो; प्रभुत्व हो;

— यदि उसके, व्याकरण, न्यायादि तथा बड़े-बड़े जैन-शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो, तो उसको वक्तापना विशेषरूप से शोभित होता है।

आत्मानुशासन, श्लोक 5 में भी इसी प्रकार के भाव दर्शाए गये हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 14-15-16)

प्रश्न 53- पात्र श्रोता कौन और यथार्थ श्रोता कौन ?

उत्तर - मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? इस लक्ष्य से जो जैनधर्म का दृढ़श्रद्धानी होकर, लोकनिंद्य कार्यों का त्यागी हो, वह पात्र श्रोता है तथा सम्यग्ज्ञानी यथार्थ श्रोता होता है।

आत्मज्ञान न हुआ हो, तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सके; इसलिए जो आत्मज्ञान द्वारा, स्वरूप का आस्वादी हुआ है, वह जिनधर्म के रहस्य का श्रोता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-17)

प्रश्न 54- वक्ता अथवा श्रोता, क्या आत्मज्ञानी ही होना आवश्यक है?

उत्तर - उपदेश का सुनना और सुनाना, दोनों में आत्मज्ञान होना आवश्यक है। जो अपने आत्मा को जान लेता है—अनुभव / प्रतीति कर लेता है, वह समस्त जिनशासन के रहस्य को जान लेता है।

श्री समयसारजी की 15वीं गाथा एवं अन्य जगह भी, इस बात की पुष्टि की गयी है।

आत्मज्ञानरूप प्रयोजन को सामने रखकर ही, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने, लिखने-लिखाने के सारे आयोजन, सार्थक होते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ की सार्थकता

प्रश्न 55- इस ग्रन्थ का 'मोक्षमार्गप्रकाशक'—ऐसा नाम, सार्थक कैसे है?

उत्तर - यह ग्रन्थ, मोक्षमार्ग को प्रकाशित करता है; इसलिए इस ग्रन्थ का मोक्षमार्गप्रकाशक—ऐसा नाम, सार्थक जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-19)

प्रश्न 56- '....तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती...' वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर - आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इस अधिकार के अन्त में, जिनवाणी पढ़ने-सुनने की प्रेरणा देते हुए उक्त कथन किया है—

जिनवाणी का पढ़ना और सुनना, दोनों ही संज्ञी पंचेन्द्रिय एवं मनुष्यभव होनेपर ही, सम्भव है। इस जीव को अनन्त पुण्यों का संग्रह होनेपर ही, मनुष्यभव, उसमें भी जैनकुल, दिगम्बर धर्म, जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। यह सब कुछ मिल जानेपर भी, यदि इस जीव ने प्राप्त जिनवाणी को नहीं पढ़ा अथवा सुलभता से प्राप्त हुए, ज्ञानी के अमृतवचनों को नहीं सुना, तो इसने संज्ञी पंचेन्द्रियपने एवं मनुष्यभव का नाश ही किया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इसके उदाहरण के लिये कहा है—जैसे—बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणीरत्न की प्राप्ति होवे और वह

अवलोकन न करे तथा जैसे—कोढ़ी को अमृतपान करावे और वह न करे, तो उसके अभाग्य की महिमा, हमसे तो नहीं हो सकती।

पुण्योदय से संज्ञी पंचेन्द्रिय होनेपर, सुलभता से देव–शास्त्र–गुरु मिलनेपर, अगर इस जीव ने चिन्तामणीरत्न के समान जिनवचनों को नहीं पढ़ा अथवा ज्ञानियों के सुलभ हुए अमृतवचनों को नहीं सुना, तो अनादि के मिथ्यात्व की महादरिद्रता और मिथ्यात्व के कोढ़ को दूर नहीं कर सकेगा।

टोडरमलजी का आशय यह है कि इसने मिली हुई इन्द्रियाँ—नेत्र, कर्ण आदि का नाश ही किया है। वर्तमान में उपलब्ध होनेपर भी जिनवाणी को नहीं पढ़ा; अथवा स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलनेपर भी जीव, ज्ञानी के वचनों को नहीं सुना, तो उसको भविष्य में नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियाँ नहीं मिलनेवाली हैं अर्थात् उसकी उत्पत्ति विकलत्रय में ही होना निश्चित है—ऐसे जीवों पर ज्ञानियों को द्वेष नहीं, समता आती है।

प्रश्न 57– मोक्षमार्गप्रकाशक की महिमा, पण्डितजी ने स्वयं, कैसे व्यक्त की है?

उत्तर – पण्डितजी ने अपनी मौलिककृति मोक्षमार्गप्रकाशक को 'महान ग्रन्थ' कहकर, इसके लिखे जाने को, 'उदय' होना कहा है। 'उदय' शब्द पवित्र, पूज्य वस्तु के आने के लिए, प्रयोग किया जाता है।

पण्डितजी पृष्ठ 9 पर लिखते हैं—''अब सार्थक 'मोक्षमार्गप्रकाशक' नाम के ग्रन्थ का 'उद्योत' करते हैं।''

इस अधिकार के अन्त में पण्डितजी लिखते हैं—'**इस ग्रन्थ का तो वाँचना, सुनना, विचारना, बहुत सुगम है—कोई व्याकरणादि का भी साधन नहीं चाहिए; इसलिए अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो! तुम्हारा कल्याण होगा!!** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 20)

—○○—

दूसरा अधिकार
संसार-अवस्था का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

मिथ्याभाव अभाव तैं, जो प्रगटै निजभाव।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- यहाँ, मङ्गलाचरण में, किसको नमस्कार किया है और क्यों?

उत्तर - यहाँ, मङ्गलाचरण में, निजभाव को नमस्कार किया है।

निजभाव, नव देवताओं में से एक जिनधर्मरूप है; इसलिए उसकी मुख्यतावाला आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया है अथवा निजभाव की एकदेश प्रकटता, गुरुरूप है तथा पूर्ण प्रकटता, देवरूप है; इसलिए भी उसके प्रति जयवन्त रहने की भावना व्यक्त की है।

प्रश्न 2- इस अध्याय की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर - इस अध्याय में—(1) कर्मबन्धन का निदान, (2) नवीन बन्ध विचार तथा (3) कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली, जीव की अवस्थाएँ—ये तीन विषय मुख्यरूप से बताए गए हैं।

प्रश्न 3- इस अधिकार का मूल प्रयोजन क्या है?

उत्तर - अनादि से संसार में, कर्मबन्धन के कारण, परिभ्रमण कर रहे जीव को, संसार के दु:खों से छुड़ाकर, मोक्ष का पुरुषार्थ कराने का प्रयोजन है।

प्रश्न 4- मोक्ष और संसार का स्वरूप क्या है?

उत्तर - कर्मबन्धन से रहित अवस्था का नाम, मोक्ष है और कर्मबन्धन से सहित अवस्था का नाम, संसार है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 22)

प्रश्न 5- ज्ञानी, संसारी जीवों को किस प्रकार से समझाते हैं?

उत्तर - ज्ञानी, संसारी जीवों को, जैसे-वैद्य, रोगी को समझाते हैं, वैसे समझाते हैं। यथार्थ को बताना, ज्ञानी का कर्तव्य है; यथार्थ को अपनाना, संसारी जीव का कर्तव्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 21)

कर्मबन्धन का निदान

प्रश्न 6- 'जीव के साथ कर्मबन्धन, अनादि से है'—यह बात, क्या आगम से सिद्ध है?

उत्तर - हाँ, यह बात, आगमप्रमाण से सिद्ध है।

'**अनादिसम्बन्धे च**॥'—ऐसा तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 2 का 41वाँ सूत्र है।

'**अणाइसंबंधो**'—ऐसा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की दूसरी गाथा का भी वचन है।

साथ ही यह बात, **युक्ति (तर्क) प्रमाण** से भी सिद्ध है। वह इस प्रकार — कर्म के निमित्त बिना, पहले जीव को रागादि कहे जाएँ तो रागादि, जीव का स्वभाव हो जाये, क्योंकि परनिमित्त के बिना हो, उसी का नाम स्वभाव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 23)

प्रश्न 7- संसार अवस्था एवं कर्मबन्धन होनेपर भी जीव, क्या मोक्ष का पुरुषार्थ कर सकता है?

उत्तर - हाँ, कर सकता है क्योंकि अनादि से एक क्षेत्र में रहनेपर भी, जीव और कर्मों में सर्वथा भिन्नता है।

'इस प्रकार ये जीव और कर्म हैं, इनका अनादि-सम्बन्ध है, तो भी जीव का कोई प्रदेश, कर्मरूप (शरीररूप) नहीं होता और कर्म (शरीर) का कोई परमाणु, जीवरूप नहीं होता; अपने-अपने लक्षण को धारण किये, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।' इसलिए संसार अवस्था एवं कर्मबन्धन होनेपर भी, पुरुषार्थी

जीव, जीव और कर्म (शरीर) का भेदज्ञान करके—जानकर, मोक्ष का पुरुषार्थ कर सकता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 23)

यह जीव, जिस काल में, जीव और कर्म (शरीरादि पुद्गलों) के स्वलक्षणों के बल से, दोनों को भिन्न जानकर अनुभवता है, उसी काल में अपने पुरुषार्थ के बल से, मोक्षमार्गी बन जाता है।

प्रश्न 8- पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने, कर्मबन्धन के निदान के सम्बन्ध में क्या बताया है?

उत्तर - (1) जीव, अनादि काल से कर्मबन्धन में है;

(2) प्रति समय (समय प्रबद्ध प्रमाण) कर्मपरमाणुओं का बन्ध कर रहा है;

(3) कर्म की दस अवस्थाएँ (करण) होती हैं;

(4) कर्म की अवस्थाओं के निमित्त से, जीव की अवस्थाएँ होती हैं।

ये चार तथ्य, पण्डितजी ने कर्मबन्धन के निदान के सम्बन्ध में बताए हैं।

प्रश्न 9- कर्मबन्धनसहित जीव, कितनी अवस्थाओं (पर्यायों) में रहता है?

उत्तर - कर्मबन्धनसहित जीव, चार अवस्थाओं (पर्यायों) में रहता है—

(1) नित्यनिगोद, (2) इतरनिगोद, (3) स्थावर और (4) त्रस।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 31-32)

प्रश्न 10- नित्यनिगोद, इतरनिगोद, स्थावर और त्रस का क्या अर्थ है?

उत्तर - **नित्यनिगोद**—जीव, अनादिकाल से जिस साधारण वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय अवस्था में रहता है, उसे नित्यनिगोद कहते हैं।

इतरनिगोद—नित्यनिगोद से निकलकर, त्रस-स्थावरों में जन्म-मरण के बाद, जीव जब पुनः निगोद (साधारण वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय) अवस्था को प्राप्त होता है, तब उसे इतरनिगोद कहते हैं।

स्थावर—स्थावरनामकर्म के उदय से, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय अवस्थाओं को, स्थावर कहते हैं।

त्रस—दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की अवस्थाओं को, त्रस कहते हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 31-32)

प्रश्न 11- नित्यनिगोद और इतरनिगोद में क्या अन्तर है ?

उत्तर -

नित्यनिगोद	इतरनिगोद
1. जीव, अनादि से इसी में रहता है।	1. जीव, अनादि से इसमें नहीं रहता है।
2. कहीं से मरकर जीव, इसमें नहीं आ सकता।	2. कहीं से मरकर जीव, इसमें आ सकता है।
3. इसकी गणना, व्यवहार-राशि में नहीं है।	3. यह व्यवहार-राशि के अन्तर्गत आता है।
4. यहाँ से, 6 माह 8 समय में, 608 जीव ही निकलते हैं।	4. यहाँ ऐसा कुछ नियम नहीं है।
5. नित्यनिगोद का काल, अनन्त जीवों की अपेक्षा, अनादि-अनन्त है और निकलनेवाले जीव की अपेक्षा, अनादिसान्त है।	5. इतरनिगोद का काल, उत्कृष्टरूप से ढाई पुद्गलपरावर्तन है; अत: यह सादिसान्त है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 31)

प्रश्न 12- स्थावर और एकेन्द्रिय में क्या अन्तर है ?

उत्तर - स्थावर अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिकरूप होना और एकेन्द्रिय से तात्पर्य है कि मात्र स्पर्शन इन्द्रियावरणकर्म का क्षयोपशम होना। एकेन्द्रिय नामकर्म के उदय से, उस जीव का जन्म, एकेन्द्रिय में होता है परन्तु वह जीव, पृथ्वी आदि किस काय को धारण करेगा, यह स्थावर नामकर्म का कार्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 32)

प्रश्न 13- इतरेतराश्रय दोष क्या है ?

उत्तर - मोह-राग-द्वेष से, कर्मबन्धन और कर्मोदय से, मोह-राग-द्वेष का होना —इसमें तो इतरेतराश्रय दोष है क्योंकि द्रव्यकर्मों से, भावकर्म और भावकर्मों से, द्रव्यकर्म—इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के आश्रय से होने को ही इतरेतराश्रय दोष कहते हैं। इसे ही परस्पराश्रय दोष भी कहते हैं परन्तु इस प्रकरण में,

इतरेतराश्रय दोष नहीं है क्योंकि जिन द्रव्यकर्मों के उदय से, जो भावकर्म होते हैं, उन ही द्रव्यकर्मों से, नवीन बँधनेवाले वे द्रव्यकर्म, भिन्न हैं। इसी प्रकार दोनों भावकर्म भी भिन्न हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 22)

प्रश्न 14- त्रसपर्याय में साधिक 2000 सागर किस प्रकार बीतते हैं?

उत्तर - एक त्रसजीव का जघन्यकाल, एक अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल, पृथक्त्व कोटि पूर्व, साधिक दो हजार सागर प्रमाणपर्यन्त इस पर्याय में रह सकता है। इसका संक्षिप्त कथन, इस प्रकार है —

वैमानिक देवायु - 1260 सागर; नरकायु - 740 सागर; साधिक में मनुष्य (कर्मभूमि, भोगभूमि, कुमानुष), तिर्यंच, भवनत्रिक के देवों (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी) को लिया गया है। (इसे विस्तार से जानने के लिए, धवलाजी की नौवीं पुस्तक देखना चाहिए।)

प्रश्न 15- क्या निगोदिया के भी, पर्याय में, स्वभाव प्रकट है?

उत्तर - पण्डितजी लिखते हैं—'**ऐसे स्वभाव के अंश का अनादि से लेकर, कभी अभाव नहीं होता।**' तथा (मो.मा.प्र., पृष्ठ 26)

'**ज्ञान ही की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशम से हुए यथार्थ ज्ञान में, कुछ विशेष नहीं है तथा वह ज्ञान, केवलज्ञान में भी जा मिलता है; जैसे–नदी, समुद्र में मिलती है; इसलिए ज्ञान में कुछ दोष नहीं है।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 88)

निगोदिया के निरावरण अंश को देखते हैं तो जो ज्ञान, दर्शन आदि उसके प्रकट हैं; उसे, कर्मोपाधि निरपेक्ष पर्यायार्थिकनय से (कर्मोपाधि से) निरपेक्ष देखा जाये तो उसकी प्रकट पर्याय में, मात्र जानना-देखना ही दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से, सिद्धों में और निगोदिया में, कुछ अन्तर नहीं है। यहाँ वर्तमान पर्याय में, न तो प्रत्यक्ष-परोक्षपना अभीष्ट है और न ही जानने में आनेवाले ज्ञेयों की संख्या। यहाँ, मात्र लाक्षणिक पर्याय को ही ऊर्ध्व करने की बात है।

निगोदिया अर्थात् नि+गो+द। नि=नियम से अनन्त जीवों को; गो=एक ही स्थान में जगह; द=देता है। इस शब्द से, निगोदपर्याय की अशुद्धावस्था, ज्ञान में आती है।

प्रश्न 16– इतरनिगोद, स्थावर और त्रस अवस्थाओं में जीव, अधिकतम कितने काल तक रहता है?

उत्तर – जीव का इतरनिगोद, स्थावर और त्रसों में रहने का जघन्यकाल, अन्तर्मुहूर्त है। इतरनिगोद में रहने का उत्कृष्टकाल, ढाई पुद्‍गलपरावर्तन है; स्थावरों में रहने का उत्कृष्टकाल, असंख्यात कल्प है तथा त्रसों में रहने का उत्कृष्टकाल, साधिक दो हजार सागर है।

प्रश्न 17– 'काकतालीय न्याय' से क्या आशय है?

उत्तर – काक=कौआ, ताल=ताड़ का वृक्ष। वस्तुत: ताड़वृक्ष की शाखा अथवा फल, बहुत मजबूती से वृक्ष से जुड़ा होता है। अचानक ही एक बार, उसपर कौआ बैठा और वह शाखा टूट गयी। यह प्रसंग देखने में आना दुर्लभ है; अत: इसे काकतालीय न्याय की संज्ञा दे दी गयी।

ठीक इसी प्रकार, स्थावर से त्रसपर्याय की प्राप्ति होना भी दुर्लभ है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 32)

जीव और कर्मों की भिन्नता

प्रश्न 18– 'जीव और कर्म, अनादि से भिन्न ही हैं'—क्या यह बात, आगमप्रमाण से सिद्ध है?

उत्तर – अनादि से तो मिले थे परन्तु बाद में भिन्न हुए, तब जाना कि भिन्न थे, तो भिन्न हुए; इसलिए पहले भी भिन्न ही थे। इस प्रकार अनुमान से तथा केवलज्ञान से, प्रत्यक्ष भिन्न भासित होते हैं; इससे उनका बन्ध होनेपर भी, भिन्नपना पाया जाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 23)

'सयं सिद्धं' – ऐसा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की दूसरी गाथा का अंश है।

इसका अर्थ है कि जीव और कर्म, अनादि से साथ रहते आये होनेपर भी, स्वयंसिद्ध हैं, स्वतन्त्र हैं, भिन्न ही हैं।

इस प्रकार **आगमप्रमाण** से भी यह बात सिद्ध है।

प्रश्न 19- जीव और कर्म के बन्ध से क्या तात्पर्य है?

उत्तर - जिस प्रकार दो पुद्गल, आपस में स्पर्शगुण की स्निग्ध-रूक्षता को लेकर बँधते हैं, ऐसा यहाँ जीव-कर्म के बीच बन्ध, सम्भव नहीं है। यहाँ बन्ध का आशय, मात्र एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 20- अमूर्तिक आत्मा से, मूर्तिक कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर - जैसे-जो व्यक्त इन्द्रियगम्य नहीं हैं-ऐसे सूक्ष्म पुद्गल तथा जो व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं-ऐसे स्थूल पुद्गल, उनका बन्ध होना मानते हैं; उसी प्रकार जो 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य नहीं है'-ऐसा अमूर्तिक आत्मा तथा 'इन्द्रियगम्य होनेयोग्य है'-ऐसा मूर्तिक कर्म; इनका भी बन्ध होना मानना।

मूर्तिक-अमूर्तिक का, इस प्रकार बन्ध होने में कुछ विरोध है नहीं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 21- जीव और कर्म, अनादि से एक साथ बताए गये हैं, सो किस प्रकार?

उत्तर - जैसे-दूध और पानी; छिलका और दाना - अनादि से साथ-साथ रहते हैं; वैसे ही जीव और कर्म, अनादि से साथ-साथ रहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 33)

घाति-अघातिकर्म और उनका कार्य

प्रश्न 22- कर्म की मुख्यरूपसे कितनी अवस्थाएँ होती हैं?

उत्तर - घातिकर्मों में उदय, क्षय तथा क्षयोपशमरूप अवस्थाएँ सम्भव हैं। मोहनीयकर्म में, उपशम भी सम्भव होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म में, चार अवस्थाएँ सम्भव हैं।

अघातिकर्मों में दो ही अवस्थाएँ सम्भव हैं और वे, उदय और क्षय हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 23- घातिकर्म के निमित्त से, जीव में क्या होता है ?

उत्तर - घातिकर्म के निमित्त से, जीव में निम्न अवस्थाएँ सम्भव हैं—

घातिकर्म के	जीव के स्वभाव
उदय में	किंचित् भी व्यक्तता नहीं होना।
क्षयोपशम में	किंचित् व्यक्तता होना।
क्षय में	पूर्ण व्यक्तता।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 24- घातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन कर्मों के उदय के निमित्त से, जीव के स्वभाव (अनुजीवी गुणों) का घात होता है, उन्हें घातिकर्म कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 25- अघातिकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन कर्मों के निमित्त से, जीव को बाह्य सामग्री का सम्बन्ध (संयोग) बनता है, उसे अघातिकर्म कहते हैं।

जैसे—सूर्य का उदय, चकवा-चकवी को मिलाता नहीं है। सूर्य का उदय होनेपर, चकवा-चकवी स्वयं मिलते हैं; ऐसे ही अघातिकर्म का उदय होनेपर, बाह्य सामग्री का सम्बन्ध स्वयमेव होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 25)

प्रश्न 26- घाति-अघाति कर्मों के ज्ञानावरणादि जड़कर्मों के उदय आदि से, जीव की कैसी अवस्थाएँ होती हैं ?

उत्तर - जड़कर्मों के उदय आदि से, जीव की अवस्थाएँ, कर्म के नाम के अनुसार ही होती हैं। ज्ञानावरण के उदय से, ज्ञान की हीनाधिक अवस्थाएँ; दर्शनावरण के उदय से, दर्शन की हीनाधिक अवस्थाएँ, इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं।

वहीं अघातिकर्मों के उदय से, विभिन्न प्रकार के संयोगों का सम्बन्ध होता है।

प्रश्न 27– 'घात' नाम तो अभाव का है; स्वभाव का तो सद्भाव है ही नहीं, घात किसका किया?

उत्तर – जीव में ऐसी शक्ति पायी जाती है कि कर्म का निमित्त न हो, तो केवलज्ञानादि अपने स्वभावरूप प्रवर्ते, परन्तु अनादि ही से, कर्म का सम्बन्ध पाया जाता है; इसलिए उस शक्ति की पूर्ण व्यक्तता नहीं होती; अत: शक्ति अपेक्षा स्वभाव है, उसे व्यक्त न होने देने की अपेक्षा, घात किया कहते हैं।

द्रव्यकर्म (जड़कर्म), जीव के स्वभाव का घात करने में समर्थ नहीं है। जब जीव, स्वयं ही विभावरूप परिणमन करता है, तब स्वभाव का अंश स्वयमेव प्रकट नहीं होता, उस काल में निमित्तरूप कर्म को, घातिकर्म कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 24)

प्रश्न 28– कर्म, कितने प्रकार के हैं?

उत्तर – कर्म, तीन प्रकार के हैं—1. द्रव्यकर्म, 2. भावकर्म और 3. नोकर्म।

प्रश्न 29– द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – **द्रव्यकर्म** – परमाणुरूप अनन्त पुद्गलद्रव्यों से उत्पन्न किया हुआ कार्य है; इसलिए उसका नाम द्रव्यकर्म है।

भावकर्म – जीव के मोह, क्रोध आदि विकारीभावों को, भावकर्म कहते हैं। मोह के निमित्त से, मिथ्यात्व–क्रोधादिरूप जीव के परिणाम हैं, वे अशुद्धभाव से उत्पन्न किए हुए कार्य हैं; इसलिए उनका नाम, भावकर्म है।

नोकर्म – शरीर को, नोकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख–दु:ख का कारण है; इसलिए शरीर को नोकर्म कहते हैं।

अघातिद्रव्यकर्म के निमित्त से, बाह्य संयोग (अनुकूल–प्रतिकूल) मिलते हैं। ये संयोग न उपादेय हैं और न हेय; मात्र ज्ञेय हैं; अत: बन्ध में कारण भी नहीं हैं। अघातिकर्म के निमित्त से, प्राप्त संयोगों को, नोकर्म कहते हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 30)

प्रश्न 30- द्रव्यकर्म से, भावकर्म और भावकर्म से, द्रव्यकर्म—क्या इसी प्रकार परस्पर कारणकार्यभाव का नियम है ?

उत्तर - पण्डितजी का कथन इस प्रकार है—'द्रव्यकर्म से, भावकर्म और भावकर्म से, द्रव्यकर्म—इसी प्रकार परस्पर कारणकार्यभाव से संसारचक्र में परिभ्रमण होता है' लेकिन ऐसा नियम नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 30)

पुरुषार्थी जीव के, द्रव्यकर्म के उदय में, भावकर्म होने का नियम नहीं है और इसीलिए संसार परिभ्रमण भी रुक जाता है। जहाँ-जहाँ भावकर्म है, वहाँ-वहाँ द्रव्यकर्म का उदय है परन्तु जहाँ-जहाँ द्रव्यकर्म का उदय, वहाँ-वहाँ भावकर्म होना जरूरी नहीं है; अतः बन्ध (संसार परिभ्रमण) भी जरूरी नहीं है। द्रव्यकर्म, जबरन भावकर्म नहीं कराता है।

इसी का पोषक कथन, प्रवचनसार, गाथा-45 की जयसेनाचार्य की टीका में भी प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—

'द्रव्यमोह का उदय होनेपर भी, यदि शुद्धात्मभावना के बल से, (जीव) भावमोहरूप परिणमन नहीं करता, तो बन्ध नहीं होता है। यदि पुनः कर्मोदयमात्र से बन्ध होता तो संसारियों के, सदैव कर्म के उदय की विद्यमानता होने से, सदैव-सर्वदा बन्ध ही होगा; (कभी भी) मोक्ष नहीं हो सकेगा—यह अभिप्राय है।'

नवीन बन्ध विचार

प्रश्न 31- जीव के साथ, नये कर्मों के बन्ध की क्या प्रक्रिया है ?

उत्तर - पूर्व कर्मोदय के निमित्त से यह जीव, कषायभाव करता है, उससे मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है, जिसे द्रव्ययोग कहते हैं। द्रव्ययोग के निमित्त से, आत्मप्रदेशों में कम्पन (चंचलपना) होता है, उससे आत्मा को पुद्गलवर्गणा से एक बन्धान होने की शक्ति होती है, उसका नाम योग (भावयोग) है। उसके निमित्त से, कर्मरूप होनेयोग्य अनन्त कर्मपरमाणुओं का ग्रहण होता है। इस प्रकार नये कर्मों का बन्ध होता है।

अत: कषाय को ही बन्ध का कारण जानना; जिन्हें बन्ध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 26-27-28)

प्रश्न 32- पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने लिखा है—'अल्पयोग हो तो थोड़े परमाणुओं का ग्रहण होता है'—इस कथन से तो अरहन्तों को, निगोदिया से अधिक आस्रव-बन्ध होने की आपत्ति आयेगी ?

उत्तर - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अरहन्तों को अधिक (तीनों) योग होने से, अधिक आस्रव-बन्ध होना सिद्ध ही है। निगोदिया के केवल काययोग है; अत: उसके अल्पयोग ही है। ऐसा होनेपर भी, यह समझना जरूरी है कि यह कथन, प्रदेशबन्ध की अपेक्षा है; स्थिति तथा अनुभागबन्ध की अपेक्षा नहीं है। स्थिति तथा अनुभागबन्ध की ओर से देखते हैं तो अरहन्तों को कदाचित् / कथंचित् अबन्ध (मुक्त) कहा जा सकता है और निगोदिया को दीर्घ संसारी। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 27)

प्रश्न 33- द्रव्यकर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर - द्रव्यकर्म के दो भेद हैं—घातिकर्म, और अघातिकर्म।

पुन: घातिकर्म के चार और अघातिकर्म के भी चार भेद हैं। इस प्रकार द्रव्यकर्म के मूलभेद, आठ हैं। **यथा**–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय—ये चार घातिकर्म कहलाते हैं। वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र—ये चार अघातिकर्म कहलाते हैं।

इन घाति व अघातिकर्मों के उत्तरभेद निम्न प्रकार हैं—

ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरण के 9, मोहनीय के 28, अन्तराय के 5, वेदनीय के 2, आयु के 4, नाम के 93, गोत्र के 2—इस प्रकार द्रव्यकर्म के उत्तरभेद 148 हैं। इन्हें कर्मप्रकृति के नाम से भी जाना जाता है।

प्रश्न 34- जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए परमाणुओं की कितनी और कौन सी अवस्थाएँ होती हैं ?

उत्तर - जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए परमाणुओं की, दस अवस्थाएँ होती हैं। इन दस अवस्थाओं को 'दस करण' भी कहते हैं। **यथा**–1. बन्ध, 2. सत्ता, 3. उदय,

4. उदीरणा, 5. उत्कर्षण, 6. अपकर्षण, 7. संक्रमण, 8. उपशम, 9. निधत्ति और 10. निकाचित।

1. **बन्ध**—जीव के साथ, कार्माणवर्गणाओं का एकक्षेत्रावगाह होना;
2. **सत्ता**—कर्म जब तक निर्जरित नहीं होते हैं, तब तक उनकी अवस्था;
3. **उदय**—कर्म के (निषेक रचनापूर्वक) फल देने की दशा;
4. **उदीरणा**—कर्म के फल देने के निश्चित समय से पूर्व, फल देने की अवस्था;
5. **उत्कर्षण**—कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् कर्म के काल और फल में वृद्धि होना;
6. **अपकर्षण**—कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् कर्म के काल और फल में हानि होना;
7. **संक्रमण**—कर्मपरमाणुओं का, अपनी जाति की अन्य प्रकृतिरूप बदलना;
8. **उपशम**—कर्म की फल देने की शक्ति का प्रकट न होना;
9. **निधत्ति**—कर्म की संक्रमण-उदीरणा रहित दशा;
10. **निकाचित**—कर्म की संक्रमण-उदीरणा-उत्कर्षण-अपकर्षण रहित दशा;

'जीवभावों का निमित्त पाकर, कर्मपरमाणुओं की अवस्था पलटती है और निमित्त न बने तो नहीं पलटे; ज्यों की त्यों रहे।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 29)

कर्मबन्धनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्थाएँ

प्रश्न 35- ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का वर्णन एकसाथ क्यों किया जाता है और उनके उदय से, जीव की अवस्था कैसी होती है?

उत्तर - छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीव को दर्शन के बाद, ज्ञान होता है; इसलिए इन दोनों का वर्णन एक साथ किया जाता है।

दूसरा हेतु यह है कि दर्शन और ज्ञान, जीव के स्वभावभाव हैं। इन दोनों का नाम, चैतन्य है। दोनों में पदार्थों का प्रतिभास होता है। पदार्थों के सामान्यस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम, दर्शन और विशेषस्वरूप प्रतिभासित होने का नाम, ज्ञान है।

तीसरा हेतु यह है कि दोनों के आस्रव, बन्धादि के कारण, स्थिति, प्रदेश आदि भी लगभग एक समान हैं।

जीव में, विश्व के सभी पदार्थों को एक साथ देखने और जानने की शक्ति सदा काल पायी जाती है परन्तु अनादि ही से ज्ञानावरण, दर्शनावरण का सम्बन्ध है; उसके निमित्त से, उस शक्ति का व्यक्तपना नहीं होता है। इनके क्षयोपशम से, किंचित् ज्ञान और दर्शन पाए जाते हैं।

ये ज्ञान और दर्शन, संसार अवस्था में इन दोनों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) कर्मों के क्षयोपशम से, इन्द्रियों के तथा इनके साधक बाह्य साधनों के निमित्त से, प्रकाशादि बाह्य कारणों की अनुकूल उपलब्धता से, होते हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षु, अचक्षुदर्शन में, इन्द्रियाधीन पराधीनता है।

अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, मन:पर्ययज्ञान में विषयरूप (मात्र पुद्गलद्रव्य को ही जानने-देखनेरूप) तथा क्षेत्ररूप, विषय की स्थूलतारूप पराधीनता होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 32)

प्रश्न 36- ज्ञान और दर्शन की क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं?

उत्तर - ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान।

दर्शन की चार अवस्थाएँ होती हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 32-33)

प्रश्न 37- मोहनीयकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है?

उत्तर - मोहनीयकर्म के उदय से, जीव के मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। इस मोहनीय के, (1) दर्शनमोह और (2) चारित्रमोह, दो भेद हैं। दर्शनमोह के उदय से, अतत्त्वश्रद्धान होता है तथा चारित्रमोह के उदय से, कषायभाव होते हैं।

अतत्त्वश्रद्धान से जीव के हिताहित के विवेक का तथा स्व-पर के ज्ञान का अभाव होता है, उससे असत्य को सत्य; सत्य को असत्य मानता है।

चारित्रमोह के उदय से, बाह्य पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, राग-द्वेष करता है।

प्रश्न 38- एक जीव, एक समय में मोहनीयकर्म की अधिक से अधिक, कितनी प्रकृतियाँ बाँध सकता है ?

उत्तर - एक जीव, मोहनीयकर्म की एक समय में अधिक से अधिक, 22 प्रकृतियाँ बाँध सकता है अर्थात् 28 में से, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति तो बन्ध योग्य ही नहीं हैं तथा हास्य और शोक में से, एक समय में एक प्रकृति; रति-अरति में से एक तथा तीन वेदों में से एक समय में, एक ही वेद का बन्ध होता है। 2+1+1+2=6 प्रकृतियाँ कम होने से, उत्कृष्ट से 22 प्रकृतियाँ बाँध सकता है। यह कथन प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 27)

प्रश्न 39- अन्तरायकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है ?

उत्तर - दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य—ये पाँच प्रकार, अन्तरायकर्म के हैं। अन्तराय के उदय से, जीव जो चाहता है, वह होता नहीं; जिसकी इच्छा करता है, वह मिलता नहीं; जो भोग-उपभोग चाहता है, उनका भोगोपभोग नहीं कर सकता। इसके क्षयोपशम से, किंचित् दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य को प्राप्त होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 41)

प्रश्न 40- वेदनीयकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है ?

उत्तर - वेदनीयकर्म के उदय से, शरीर में सुख-दुःख के कारणभूत आरोग्यपना-रोगपना, बाह्य में शरीर के अनुकूल-प्रतिकूल—ऐसे सुहावने-असुहावने वायु आदि, स्त्री-पुत्रादि, बन्धु-बान्धवादि के संयोग-वियोग होते हैं। वहाँ यह जीव, मोह-अज्ञान-असंयम से, सदा काल आकुलता का ही वेदन करता रहता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 41-42)

प्रश्न 41- आयुकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है ?

उत्तर - आयुकर्म के उदय से, शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। रोग आदि कितने ही कारण मिलनेपर भी, शरीर से सम्बन्ध छूटता नहीं। आयुकर्म का उदय समाप्त हो तो कितने ही औषधि आदि उपाय करनेपर भी, शरीर का सम्बन्ध रहता नहीं।

आयुकर्म के कारण ही संसार में जन्म-जीवन-मरण हैं। यह जीव, मोह के कारण, उक्त सिद्धान्त को न जानकर, प्राप्त पर्याय में तन्मय होकर, उसी की रक्षा के उपाय में व्याकुल रहता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 42)

प्रश्न 42- नामकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है?

उत्तर - नामकर्म के उदय से, मनुष्य शरीरादि की प्राप्ति होती है; अंग-उपांग की रचना होती है; यश-अपयश आदि के कारण बनते हैं; यह जीव, मोह के कारण, उनमें अनुकूल-प्रतिकूल की कल्पना करके, व्याकुल होता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 43-44)

प्रश्न 43- गोत्रकर्म के उदय से, जीव की कैसी अवस्था होती है?

उत्तर - गोत्रकर्म के उदय से, उच्च या नीच कुल में जन्म होता है। वहाँ अधिकता या हीनता की प्राप्ति होती है। वहाँ भी यह जीव, मोह से स्वयं ही कल्पना करके, आकुल-व्याकुल होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 44)

प्रश्न 44- 'ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतियों का जैसा सिद्धान्त में कहा है, वैसा बँटवारा होता है'—इस वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर - प्रत्येक समय में, एक समयप्रबद्ध कर्मपरमाणुओं का ग्रहण, प्रत्येक जीव (तेरहवें गुणस्थान तक) करता है। उनमें से आयु का भाग, कम है। उससे अधिक और परस्पर में समान, नाम और गोत्र में है। उससे अधिक और परस्पर में समान, तीन घाति—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय में है। उससे भी अधिक, मोहनीय में और उससे भी अधिक, वेदनीय में है।

स्पष्टता के लिए निम्न तालिका से समझ सकते हैं —

माना कि, एक समयप्रबद्ध का प्रमाण 100 परमाणु हैं। उनका विभाजन मूलप्रकृतियों में इस प्रकार होता है—

आयुकर्म, मात्र अपकर्षकाल में बँधता है। शेष सात कर्म, निरन्तर बँधते हैं। अपकर्षकाल के अतिरिक्त, एक समयप्रबद्ध का विभाजन, सात प्रकृतियों में हो जाता है।

उपर्युक्त प्रदेशबन्ध का विभाजन, गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 192 गाथा से 217 गाथा तक दर्शाया गया है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 27)

प्रश्न 45- एक समयप्रबद्ध का क्या प्रमाण है?

उत्तर - अभव्यराशि से अनन्तगुणे और सिद्धराशि के अनन्तवें भाग के बीच की संख्या को, एक समयप्रबद्ध कहते हैं। यह संख्या, अनन्त में है और इसके अनन्त भेद होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 30)

प्रश्न 46- जितने कर्म आते हैं, उतने ही निर्जरित होते हैं और कुछ कम डेढ़ गुणे, सत्ता में पड़े रहते हैं—यह किस प्रकार सम्भव है?

उत्तर - एक समयप्रबद्ध कर्मों का आस्रव होकर, एक समयप्रबद्ध कर्मों की निर्जरा होनेपर भी, डेढ़ गुणे कर्म, सत्ता में पड़े रहने के मुख्यतया दो कारण हैं — (1) आबाधाकाल और (2) निषेकरचनाक्रम।

आबाधाकाल–कर्मबन्ध के बाद से उदय में आने के पूर्व का काल, आबाधाकाल कहलाता है।

निषेकरचनाक्रम–एक समय में खिरनेवाले कर्मों को, निषेक कहते हैं।

एक समय में एक साथ बँधे कर्म, आबाधाकाल के बाद, आबाधाकाल कम, अपनी स्थितिपर्यन्त, कर्मों के खिरने की प्रक्रिया, क्रमशः अधिकता से हीनता की ओर होती है; यहाँ विशेष यह है कि द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म के कारणकार्यभाव का नियम नहीं है। इसी प्रक्रिया को निषेकरचनाक्रम कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिस समय, कर्म बँधता है, यदि उसी समय खिर जाता, तब तो सत्ता की स्थिति ही नहीं बनती, परन्तु कर्म आकर कुछ काल संचित (accumulate) रहता है। अबाधाकाल के बाद स्थिति के

अनुसार क्रमशः उत्तरोत्तर हीन–हीनरूप में उदय आकर खिरता है। इन दोनों कारणों से, सत्ता में कर्म संचित होते रहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 30)

प्रश्न 47– बन्ध कितने प्रकार का है और उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर – बन्ध चार प्रकार का है—(1) प्रकृतिबन्ध, (2) प्रदेशबन्ध, (3) स्थितिबन्ध और (4) अनुभागबन्ध।

1. **प्रकृतिबन्ध**–जीव द्वारा ग्रहण किए गये कर्मपरमाणुओं के फल देने के स्वभाव को, प्रकृतिबन्ध कहते हैं।
2. **प्रदेशबन्ध**–ग्रहण किए हुए कर्मपरमाणुओं की संख्या को, प्रदेशबन्ध कहते हैं।
3. **स्थितिबन्ध**–ग्रहण किए हुए कर्मपरमाणु जब तक फल देते हैं, उतने काल को, स्थितिबन्ध कहते हैं।
4. **अनुभागबन्ध**–ग्रहण किए हुए कर्मपरमाणुओं की फल देने की शक्ति को, अनुभागबन्ध कहते हैं।

इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध, योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध, कषाय के निमित्त से होते हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 26, 27, 28)

प्रश्न 48– कर्मों का स्थिति व अनुभाग, कम या अधिक किस प्रकार पड़ता है ?

उत्तर – स्थितिबन्ध का ज्ञान करने के लिए, हमें 148 प्रकृतियों का दो भागों में विभाजन करना चाहिए। एक भाग में, तीन शुभआयु (नरक छोड़कर) तथा शेष 145 प्रकृतियों को दूसरे भाग में रखें। तीव्रकषाय से, 145 प्रकृतियों का स्थितिबन्ध अधिक होता है; शेष तीन का कम। मन्दकषाय से, 145 प्रकृतियों का स्थितिबन्ध कम होता है और तीन का अधिक।

अनुभागबन्ध के लिए, पुनः 148 (विस्तारभेद से, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की 20 प्रकृतियों सहित 168) प्रकृतियों को, दो भागों में बाँटे। एक भाग में तो 100 पापप्रकृतियों को रखें और दूसरे भाग में 68 पुण्यप्रकृतियों को रखे। तीव्रकषाय से पापप्रकृतियों में, अनुभागबन्ध अधिक पड़ता है; पुण्यप्रकृतियों में कम। मन्दकषाय से, पापप्रकृतियों में अनुभागबन्ध कम पड़ता है और

पुण्यप्रकृतियों में ज्यादा। पुद्गलसम्बन्धी (वर्ण, रस, गन्ध व स्पर्श) 20 प्रकृतियाँ, पुण्य व पाप दोनोंरूप होती हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 27)

प्रश्न 49- तीर्थंकर प्रकृति, प्रशस्त है या अप्रशस्त?

उत्तर - तीर्थंकर प्रकृति, अनुभागापेक्षा प्रशस्त होनेपर भी, स्थिति-अपेक्षा, अप्रशस्त है। विचारणीय बात है कि — 168 प्रकृतियों में से, अनुभागापेक्षा, 100 प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं और 68 प्रकृतियाँ प्रशस्त हैं। स्थिति अपेक्षा, 145 प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं और तिर्यंचायु, देवायु और मनुष्यायु—ये 3 प्रकृतियाँ प्रशस्त हैं।

प्रश्न 50- जब कषाय से, स्थिति और अनुभागबन्ध तथा योग से, प्रकृति और प्रदेशबन्ध कहा है तो क्या मिथ्यात्व से बन्ध नहीं होता है?

उत्तर - प्रथम गुणस्थान में, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव की अपेक्षा, 41 व्युच्छिन्न प्रकृतियों का बन्ध, मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी, दोनों को लेकर है। यदि ऐसा न होता तो दूसरे गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का संवर कहा है, वह न कहते। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का उदय है और उस सम्बन्धी 25 प्रकृतियाँ बँधती हैं। इससे सिद्ध होता है कि 16 प्रकृतियों का बन्ध, जो केवल प्रथम गुणस्थान में होता है, वह केवल मिथ्यात्व ही के कारण है।

तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र में, बन्ध के पाँच कारण बताते हुए, प्रथम कारण, मिथ्यात्व को ही बताया है।

प्रश्न 51- 'मिश्रयोग' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - योग के मूलतः तीन भेद हैं। इनके प्रभेद, 15 हो जाते हैं। वे इस प्रकार —

(1) मनोयोग - सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग तथा अनुभयमनोयोग।

(2) वचनयोग - सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग तथा अनुभयवचनयोग।

(3) काययोग - औदारिककाययोग, **औदारिकमिश्रकाययोग,** वैक्रियिककाययोग, **वैक्रियिकमिश्रकाययोग,** आहारककाययोग, **आहारकमिश्रकाययोग** तथा कार्मणकाययोग।

यहाँ मिश्रयोग का अर्थ, उभयवचनयोग तथा उभयमनोयोग लेना उचित है। इसी मिश्रयोग से कितनी ही पुण्य- प्रकृतियों का तथा कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 27)

प्रश्न 52- क्या क्षयोपशमिक ज्ञान, एक काल में एक ही विषय को जानता है?

उत्तर - क्षायोपशमिक ज्ञान=लब्धि+उपयोग। लब्धि तथा उपयोग, दोनों प्रकट पर्याय के अंश हैं; मात्र उपयोग नहीं। एक काल में एक विषय को जानना होता है, वह उपयोग के द्वारा होता है। यह उपयोग व्यापाररूप रहता है।

उसी समय लब्धि, अव्यापाररूप रहते हुए भी, प्रकट ही होती है। इस लब्धिरूप ज्ञानांश के ज्ञेय, कई पदार्थ हैं; अतः उपयोग से कई गुणा अधिक ही क्षायोपशमिकज्ञान रहता है। क्षायोपशमिकज्ञान, एक काल में, एक ही विषय को जानता है—ऐसा कहना, स्थूल कथन है; यह कथन उपयोग की मुख्यता से है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 36)

प्रश्न 53- 'क्षयोपशम से होनेवाली शक्ति, केवलज्ञान-दर्शन की है'—क्या यह कथन सत्य है?

उत्तर - आत्मा में दो प्रकार की शक्ति (योग्यता / सामर्थ्य) होती है। एक तो त्रिकाल सामर्थ्य, जो कि निगोद से लेकर, सिद्धों तक समान, केवलज्ञान-दर्शन की है। आत्मा में दूसरी, पर्यायगत सामर्थ्य होती है, जो प्रकटरूप (व्यक्तरूप) होती है। पर्याय में जानने की इस सामर्थ्य को, लब्धि कहते हैं। वह समस्त व्यक्तियों में तथा एक ही व्यक्ति को अलग-अलग समय में, हीनाधिक रहती है। यह शक्ति, क्षयोपशम से होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 36)

प्रश्न 54- 'पुण्य (सातावेदनीय) कर्म के उदय में, इष्ट सामग्री मिलती है'—इस कथन का रहस्य क्या है?

उत्तर - पुण्योदय से इष्ट सामग्री मिलती है और पापोदय से अनिष्ट सामग्री मिलती है, यह तो उपचार का कथन है क्योंकि वेदनीय, पुद्गलविपाकी प्रकृति नहीं है, वरन्, जीवविपाकी प्रकृति है। वेदनीयप्रकृति का सम्बन्ध, जीव के परिणामों से है। वास्तविकता तो यह है कि पुण्योदय में जो सामग्री, इष्ट लगती है;

वही सामग्री, पापोदय में अनिष्ट भासित होती है। इतना विशेष है कि मोह के उदय में ही, वेदनीय का उदय कार्यकारी है। मोह के अभाव में, वेदनीयकर्म, जीव को ना ही, इन्द्रियसुख देने में समर्थ है और ना ही, दु:ख देने में।

प्रश्न 55– 'जैसा क्षयोपशम हो, वैसा जातिकर्म प्राप्त करता है'—वाक्य का क्या आशय है ?

उत्तर – पण्डितजी का कथन इस प्रकार है—'इस जातिकर्म के उदय को और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम को, निमित्त–नैमित्तिकपना जानना। जैसा क्षयोपशम हो, वैसी जाति प्राप्त करता है।'

छद्मस्थदशा में, मतिज्ञान में ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति इन्द्रियों के द्वारा होती है; इसीलिए इन्द्रियों के बढ़ने से, ज्ञानवृद्धि का तथा इन्द्रियों की कमी से, ज्ञान की हीनता का सीधा सम्बन्ध होता है। एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा, दो इन्द्रिय जीव को और दो इन्द्रियधारी की अपेक्षा, तीन इन्द्रियधारी को, ज्ञान का उघाड़, विशेष है। इसी प्रकार आखिर तक समझना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 43)

प्रश्न 56– स्वरूपाचरणचारित्र किस गुणस्थान में होता है ?

उत्तर – पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन, मुनि के प्रसंग में इस प्रकार किया है – **'यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब।'**

इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ **सातवें तथा उसके आगे के** गुणस्थानों में स्वरूपाचरणचारित्र का सद्भाव बताया गया है।

ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ प्रचुर स्थिरता की बात की जा रही है क्योंकि गोपालदासजी ने जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में, **चतुर्थ गुणस्थान में ही इसका सद्भाव कहा है।**

ग्रन्थों में आपस में विरोध न देखकर, हमें उनकी अपेक्षाएँ समझनी चाहिए।

अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभाव में, जितनी स्थिरता होती है, वह स्वरूपाचरणचारित्र का ही अंश है। पण्डित टोडरमलजी भी स्वरूपाचरणचारित्र

का सद्भाव, चौथे गुणस्थान में मानते हैं। वस्तुतः स्वरूपाचरण तो चारित्र का स्वरूप है।

प्रवचनसार गाथा 07 की टीका में कहा है '**स्वरूपे चरणं चारित्रम्।**'

अतः स्वरूपाचरणचारित्र, चौथे में प्रारम्भ होकर, सातवें गुणस्थान में प्रचुर हो जाता है—यह सिद्ध होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 39)

प्रश्न 57- कषाय और नोकषाय का भेद स्पष्ट करें?

उत्तर -

कषाय	नोकषाय
1. कषाय से स्थिति-अनुभागबन्ध, अधिक होता है; जैसे-कषाय की उत्कृष्ट स्थिति, 40 कोड़ाकोड़ी सागर है।	1. नोकषाय से स्थिति-अनुभागबन्ध, अपेक्षाकृत कम होता है; जैसे-नोकषाय की उत्कृष्ट स्थिति, 20 कोड़ाकोड़ी सागर है।
2. कषाय, स्वतन्त्रता से उदय में आती है।	2. नोकषाय, स्वतन्त्रता से उदय में न आकर, किसी कषाय के साथ ही उदय में आती है।
3. यह जाति से शक्तिशाली है।	3. यह ईषत् (किंचित्) कषाय है।
4. नोकषाय के बाद, कषाय नष्ट होती है, जैसे-कषाय, दसवें गुणस्थान तक होती है।	4. कषायों के पूर्व ही, नोकषाय नष्ट होती है। जैसे- नोकषाय, नौवें गुणस्थान तक ही होती है।
5. क्रोधादि चारों कषायों का बन्ध, युगपत् होता है। जैसे-अकेले क्रोध के भाव से भी बन्ध तो क्रोधादि चारों का होता है।	5. नोकषायों में सबका एक साथ बन्ध, असम्भव है। जैसे-हास्य-शोक युगल में से, रति-अरति युगल में से तथा तीन वेदों में से, एक समय में एक-एक ही का बन्ध होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 40)

प्रश्न 58- इस अध्याय के अन्त में, पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने क्या शिक्षा दी है ?

उत्तर - हे भव्य! अपने अन्तरंग में विचारकर देख—'ऐसे ही है या नहीं'; वहाँ विचार करनेपर ऐसा ही प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा है तो तू यह मान—'मेरे अनादि से संसार रोग पाया जाता है, उसके नाश का मुझे उपाय करना'—इस विचार से तेरा कल्याण होगा! (मो.मा.प्र., पृष्ठ 44)

—oo—

तीसरा अधिकार

संसारदुःख तथा मोक्षसुख का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

सो निजभाव सदा सुखद, अपनौं करौ प्रकाश।
जो बहु विधि भव दुःखनि कौ, करि है सत्ता नाश॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार के मङ्गलाचरण में, किसे नमस्कार किया गया है?

उत्तर - इस अधिकार के मङ्गलाचरण में, निजभाव को ही नमस्कार किया गया है, जो नव देवताओं में, वीतरागी जिनधर्मरूप है। यह निजभाव, त्रिकाल वीतराग - विज्ञान ध्रुवरूप शुद्धता लिए हुए होने से, नमस्कार योग्य है।

इसका उदाहरण - '**नमः समयसाराय.....**' जो, समयसार ग्रन्थाधिराज की अमृतचन्द्राचार्यरचित आत्मख्याति टीका का, मङ्गलाचरण है।

प्रश्न 2- इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर - इस अधिकार में संसारदुःख तथा मोक्षसुख का निरूपण किया गया है।

(1) संसारदुःख और उसका मूलकारण—(क) कर्मों की अपेक्षा से, (ख) पर्यायों की अपेक्षा से, (ग) दुःख का सामान्यस्वरूप, एवं (2) मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति का उपाय बताया गया है।

प्रश्न 3- मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के दूसरे तथा तीसरे अधिकार की विषयवस्तु में, मूलभूत अन्तर क्या है?

उत्तर - दूसरे अधिकार में, कर्मों के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था का सांगोपांग

निरूपण है और तीसरे अधिकार में, संसारावस्था में कर्मों के निमित्त से —पर्याय / गति के निमित्त से, जीव को होनेवाले दु:ख, दु:ख के बीजभूत कारण, मोक्षावस्था में जीव को होनेवाले सुख और उसके उपाय की चर्चा की गयी है।

संसारदु:ख और उसका मूलकारण

प्रश्न 4- इस अधिकार में, वर्णित दु:ख-सुख की विशेषता बताएँ ?

उत्तर - इस अधिकार में, दु:ख तथा सुख के कारणोंपर, दो प्रकार से विचार किया गया है—एक, निमित्त की ओर से और एक, उपादान की ओर से।

जैसे—छद्मस्थावस्था में इच्छा तो सबको जानने-देखने की थी और जानना -देखना तो बहुत कम होता था अर्थात् दोहरा दु:ख। केवलज्ञान तथा केवलदर्शन होनेपर, जानने-देखने की इच्छा समाप्त हो गयी और जानना-देखना सबका हो गया अर्थात् दोहरा सुख।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मवत्, अन्य कर्मों में भी समझना।

प्रश्न 5- दु:ख के स्वरूप को कितने प्रकार से बताया है ?

उत्तर - दु:ख के स्वरूप को तीन प्रकार से बताया है—(1) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा से, (2) एकेन्द्रिय आदि पर्यायों की अपेक्षा से तथा (3) इच्छाओं की अपेक्षा से, दु:ख के सामान्यस्वरूप को बताया है।

प्रश्न 6- पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, संसारी जीव के सभी दु:खों के मूलकारण कौन से हैं ?

उत्तर - पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, संसारी जीव के सभी दु:खों के मूल-कारण तीन हैं—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 46)

प्रश्न 7- मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम—ये तीनों दु:ख के मूलकारण क्यों हैं ?

उत्तर - मिथ्यादर्शन से, वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसी प्रतीति नहीं होती है; अज्ञान से, वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा ज्ञान नहीं होता; असंयम से, वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसी प्रवृत्ति नहीं होती है।

इसलिए तीनों, दु:ख के मूलकारण हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 46)

(क) कर्मों की अपेक्षा से

प्रश्न 8– ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान और दर्शन, स्वभाव के अंश हैं; स्वभाव, दुःख का कारण नहीं होता, तब इनको दुःख का कारण क्यों कहा है ?

उत्तर – मिथ्यादर्शनादि के कारण, जीव को स्व–पर विवेक नहीं हो सकता। **एक 'आप आत्मा' और अनन्त पुद्‌गलपरमाणुमय शरीर; इनके संयोगरूप मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उस पर्याय ही में 'आपा' मानता है।** तथा आत्मा का ज्ञान–दर्शनादि स्वभाव है, उसके द्वारा किंचित् जानना–देखना होता है और कर्मोपाधि से हुए क्रोधादिभाव, उनरूप परिणाम पाये जाते हैं तथा शरीर का स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण स्वभाव है, वह प्रगट है और स्थूल–कृशादि होना, स्पर्शादि का पलटना, इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होती हैं; इन सबको अपना स्वरूप जानता है।

इसलिए ज्ञान व दर्शन के क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान–दर्शन, यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। अतः इसे दुःख का कारण बताया है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 46)

प्रश्न 9– ज्ञानावरणकर्म की कौन–सी अवस्था से, ज्ञान, किस–किस रूप में प्राप्त होता है ?

उत्तर – (1) ज्ञानावरणकर्म के उदय से, अज्ञान बना रहता है; ज्ञान नहीं होता। (2) ज्ञानावरण के क्षयोपशम से, थोड़ा ज्ञान होता है। उसमें भी सर्वघाति–स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय तथा सद्‌वस्थारूप उपशम को लेकर, ज्ञान तो प्रकट होता है परन्तु देशघातिस्पर्धकों के उदय को लेकर, अस्पष्टता (मलिनता) होती है तथा (3) ज्ञानावरणकर्म के क्षय से, पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 50)

प्रश्न 10– क्षयोपशम से होनेवाला ज्ञान और दर्शन, स्वभाव के अंश हैं; स्वभाव, दुःख का कारण नहीं होता, तब इन दोनों को दुःख का कारण क्यों बताया है ?

उत्तर – परमार्थ से इन दोनों के क्षयोपशम से होनेवाले, ज्ञान–दर्शन, दुःख के कारण नहीं हैं। इच्छा, दुःख का कारण है, वही क्षयोपशम से होती है; इसलिए कारण

के कारण में, कारण का उपचार करके, उनको दु:ख का कारण कहा है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 41-42)

प्रश्न 11- नि:केवलज्ञान के अनुभवन से, क्या आशय है?

उत्तर - नि:केवलज्ञान; नि:=पर से भिन्न अर्थात् शुद्ध; केवल=मात्र (Only); ज्ञान।

इस संसारी जीव को, ऐसे शुद्धज्ञान का अनुभवन तो है नहीं; उसे ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव होता है। इससे पंचेन्द्रिय विषयों की प्रधानता भासित होती है। मैंने, नृत्य देखा; राग (संगीत) सुना; स्वाद लिया; स्पर्श किया; शास्त्र जाना; मुझे यह (मन से) जानना—इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान के अनुभव के कारण, अपने शुद्ध, मात्र ज्ञान (नि:केवलज्ञान) की प्रधानता भासित नहीं होती; वरन् जो विषय, इन्द्रियों के माध्यम से जाने जाते हैं, उनकी प्रधानता भासित होती है।

यहाँ पर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है—जैसे-कुत्ता, हड्डी चबाता है, उससे (उसका) अपना खून निकलता है। उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियों का स्वाद है; उसी प्रकार यह जीव, विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है। उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है—'यह विषय का स्वाद है' लेकिन विषय में तो स्वाद है नहीं। आप (स्वयं) ही ने, इच्छा की थी, उसे आप ही ने जानकर, आप ही ने आनन्द मान लिया, परन्तु 'मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ'—ऐसा नि:केवलज्ञान का तो अनुभवन है नहीं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 46)

प्रश्न 12- ज्ञेयमिश्रित ज्ञान के अनुभवन से क्या आशय है?

उत्तर - नि:केवलज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञान का अस्वीकार ही, ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभवन है। शुद्धज्ञान का तात्पर्य, ज्ञेयनिरपेक्ष ज्ञान से है—ज्ञेयों से अप्रभावित ज्ञान से है।

अज्ञानी को ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव होता है। अज्ञानी, ज्ञेयों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—ऐसे चारों सम्बन्धों को स्थापित करके, इष्ट -अनिष्ट कल्पना करके, दु:खी होता है।

प्रश्न 13- विश्व में वस्तुओं का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - इस विश्व में '**अनादिनिधन वस्तुएँ, भिन्न-भिन्न, अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई, किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 52)

प्रश्न 14- ज्ञानावरण के क्षयोपशम के दुःखदायक होने में, मोह की निमित्तता क्यों आवश्यक है ?

उत्तर - मोह अर्थात् इच्छा आदि। यदि जानने की इच्छा ही नहीं है, तो क्षयोपशम पर, दुःखदायक होने का आरोप लग ही नहीं सकता। जानने की इच्छा होनेपर ही, ज्ञानावरण का क्षयोपशम (अस्पष्ट ज्ञान), दुःखदायक प्रतीत होता है। व्यापकदृष्टि से देखें तो मोह के अभाव में, किसी भी कर्म का उदय, दुःखदायक नहीं होता है और मोह का उदय रहते हुए, अन्य कर्मों के उदय में, जब जीव, जुड़ जाता है, तो ही अन्य कर्म, दुःखदायक होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 50)

प्रश्न 15- मिथ्यादर्शन को सब दुःखों का मूल, क्यों कहा है ?

उत्तर - जो विषयों की इच्छा होती है, कषाय होती है, बाह्य सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है; सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है, सो इन सबका मूलकारण, एक मिथ्यादर्शन है। उसका नाश होनेपर, इन सबका नाश हो जाता है; इसलिए सब दुःखों का मूल, यह मिथ्यादर्शन ही है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 51)

प्रश्न 16- चारित्रमोह के कारण उत्पन्न दुःख से, मुक्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर - चारित्रमोह के उदय से, जीव के क्रोधादि कषायरूप तथा हास्य आदि नोकषायरूप भाव होते हैं। क्रोधकषाय होनेपर, जीव को, दूसरे का बुरा करने की इच्छा होती है; मानकषाय होनेपर, औरों को नीचा व अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है; मायाकषाय होनेपर, छल से कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है; लोभकषाय होनेपर, पदार्थ के लाभ की इच्छा होती है; हास्य आदि नोकषाय होनेपर, हँसने लगता है, रति-अरति आदि करता है, वहाँ सतत आकुल

-व्याकुल रहता है क्योंकि कषाय का उदय हो, तब कषाय किए बिना रहा नहीं जाता। वहाँ कषायों के बाह्य कारणों के मिलनेपर, उनका आश्रय करता है, बाह्य कारण न मिलें तो स्वयं कारण बनाता है। वहाँ एक समय के लिए भी निराकुलता नहीं है।

ऐसी स्थिति में यथार्थ श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान हो, तब कषायभाव मिटें तथा जितने अंश में कषायें मिटें, उतने अंश में निराकुलता हो। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 57)

प्रश्न 17- अन्तरायकर्म के उदय से, जीव दु:खी क्यों है और उससे निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर - जीव को मोह के उदय से, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यशक्ति का इच्छारूप उत्साह होता है परन्तु अन्तरायकर्म के उदय से, उस इच्छारूप उत्साह की पूर्ति नहीं होती है, उससे जीव, महादु:खी होता है।

सम्यग्दर्शनादि से वह उत्साह मिट जाता है और अन्तराय का अनुभाग घटता है; अनुभाग घटने से, शक्ति बढ़ती है, तब आकुलता भी घटती है। आकुलता के अभाव में सुख होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 57-58)

प्रश्न 18- 'अन्तरायकर्म से होनेवाले दु:ख' में, मोह का निमित्त क्यों आवश्यक है?

उत्तर - वस्तुत: अन्तरायकर्म, बाहर की वस्तुओं के दान-ग्रहणादि पर, आधारित नहीं है क्योंकि यह पुद्गलविपाकीप्रकृति नहीं है। इसे उपचार से पुद्गलविपाकी कहा जाता है, जिससे सामान्यबुद्धि जीवों को समझ में आए और निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध की सघनता का भी ज्ञान हो।

वस्तुत:, अन्तरायकर्म, जीवविपाकीप्रकृति है; अत: यह जीव के परिणामों पर, आधारित है। जिस जीव को दानादि करने की इच्छा (मोह) है, उसी के दानादि की असफलता में, दानादि अन्तरायकर्म का उदय, निमित्त माना जाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 57)

प्रश्न 19- वेदनीयकर्म से सुख-दु:ख के कारणभूत पदार्थों का संयोग होता है, उससे जीव दु:खी क्यों है और उससे निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है?

उत्तर - वेदनीयकर्म के उदय से, बाह्य पदार्थों का संयोगमात्र होता है तथा ये पदार्थ,

जीव को सुख-दु:ख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न भ्रम से यह जीव, बाह्य संयोगों को, सुख-दु:ख का कारण मानता है।

सम्यग्दर्शन से भ्रम दूर होनेपर, बाह्य पदार्थों को सुख-दु:ख होने की जीव की मान्यता मिटती है, तब जीव, उस सम्बन्धी दु:ख से मुक्त होता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 61)

प्रश्न 20- 'असाता का उदय होनेपर, जो भी हो, उससे दु:ख ही भासित होता है', तो क्या वेदनीयकर्म का बाह्य पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है?

उत्तर - वेदनीयकर्म, जीव-विपाकी या कथंचित् पुद्गल-विपाकी प्रकृति होने से, वास्तव में इसका सम्बन्ध, बाह्य सामग्री से नहीं, वरन् जीव के अपने परिणामों या कथंचित् शरीर से है। क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते हुए, अपनी-अपनी योग्यतानुसार, कर्मों के नोकर्मरूप में जो भी सामग्री अपने संयोग में आती है, जो भी परिस्थिति बनती है, उसमें इष्ट या अनुकूल वेदन में, निमित्त होनेवाला कर्म, सातावेदनीय तथा अनिष्ट या प्रतिकूल वेदन में, निमित्त होनेवाला कर्म, असातावेदनीय है।

इस कर्म का सीधा सम्बन्ध, बाह्य सामग्री से जोड़नेपर, अनेकों प्रश्न उपस्थित होते हैं; उनमें से कुछ प्रश्न, निम्नलिखित हो सकते हैं—

1. किसी विशिष्ट क्षेत्र में हमारे जाने से पूर्व भी, वही सामग्री विद्यमान थी, अभी है और वहाँ से हमारी वापसी के बाद भी, वह सामग्री बनी रह सकती है; उसकी विद्यमानता में, किस कर्म का उदय, कारण माना जाए?
2. कोई एक विशिष्ट-सामग्री, एक ही क्षण में, किसी एक को अनुकूल तथा किसी अन्य को प्रतिकूल प्रतीत होती है अथवा कोई सामग्री, किसी एक व्यक्ति को ही, कभी अनुकूल प्रतीत होती है और कभी प्रतिकूल; तब फिर, उस सामग्री की प्राप्ति, किस कर्म के उदय से हुई मानी जाए?
3. स्वर्गादि में उत्तरोत्तर बाह्य परिग्रह, कम होता जाता है और इन्द्रियजन्य सुख बढ़ता जाता है—इसका कारण क्या है?
4. समस्त सामग्रियाँ, आहारवर्गणा के कार्य हैं और वेदनीयकर्म, कार्मणवर्गणा का

कार्य है; दोनों में पारस्परिक अन्योन्याभाव है, तब फिर कर्म के उदय में सामग्री कैसे मिल सकती है ?

5. घर-परिवार के किसी एक सदस्य का देहावसान हो जानेपर भी, उसके द्वारा अर्जित सामग्रियाँ यहीं रह जाती हैं, तो क्या उसके पुण्य-पाप यहीं रह गए हैं ? क्या किसी एक के पुण्य-पाप, दूसरे को भोगने के लिए, यहीं रह जाते हैं ?

इत्यादि अनेकानेक तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वास्तव में किसी विशिष्ट वस्तु या परिस्थिति का प्राप्त होना, वेदनीयकर्म का कार्य नहीं है; वरन् वह अनुकूल-प्रतिकूल लगना, वेदनीयकर्म का कार्य है।

प्रश्न 21- आयुकर्म से, इस जीव की मनुष्यादि पर्यायों में स्थिति होती है, उससे जीव दु:खी कैसे ? उससे निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर - आयुकर्म से, उतनी उस पर्याय में जीव की स्थिति होती है - इसका यथार्थ श्रद्धान न होने तथा उस पर्याय में अहंबुद्धि होने से, जीव, मरणभय से सदा काल दु:खी रहता है।

सम्यग्दर्शनादि से, चैतन्य में अहंबुद्धि होनेपर, मरणभय से मुक्त होता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 61)

प्रश्न 22- नामकर्म के उदय से, गति-जाति-शरीरादि का संयोग होता है, वहाँ जीव किस प्रकार से दु:खी है, उस दु:ख को मिटाने का सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर - नामकर्म के उदय से, गति-जाति-शरीरादि उत्पन्न होते हैं, उनमें से जो पुण्य के उदय से होते हैं, वे तो [इन्द्रिय] सुख के कारण होते हैं और जो पाप के उदय से होते हैं, वे दु:ख के कारण होते हैं परन्तु यहाँ [वास्तविक] सुख मानना, भ्रम है। तथा यह दु:ख के कारण मिटाने का और सुख के कारण मिलाने का जो उपाय करता है, वह झूठा है।

सच्चा उपाय सम्यग्दर्शनादि हैं; वहाँ जैसा निरूपण, वेदनीय का कथन करते हुए किया, वैसा यहाँ भी जानना। वेदनीय और नाम में, सुख-दु:ख के कारणपने की समानता से, निरूपण की समानता जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-61-62)

प्रश्न 23- गोत्रकर्म के उदय में जीव, दुःखी कैसे है और उससे निवृत्ति का सच्चा उपाय क्या है ?

उत्तर - गोत्रकर्म के उदय से, उच्च या नीचकुल में जन्म होता है, उससे अपने को उच्च या नीच जानकर, हर्ष-विषाद करता है परन्तु कुल की अपेक्षा, ऊँचा-नीचा मानना भ्रम है।

वह भ्रम, सम्यग्दर्शनादि से दूर होता है, तब जीव, सुखी होता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 61)

(ख) पर्याय की अपेक्षा से

प्रश्न 24- कितनी पर्यायों की अपेक्षा से, दुःख बताए गये हैं ?

उत्तर - यहाँ (1) एकेन्द्रिय, (2) विकलत्रय, (3) असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा (4) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायों की अपेक्षा से, दुःख बताए गये हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 62)

प्रश्न 25- एकेन्द्रिय पर्याय में किस प्रकार से दुःख है ?

उत्तर - एकेन्द्रिय पर्याय में, ज्ञान-दर्शन की शक्ति, हीन होने से, दर्शनमोह से पर्याय का आपरूप श्रद्धान होने से, तीव्र कषायरूप परिणति होने से तथा पापरूप प्रकृतियों के ही तीव्र उदय से, महा-दुःखी होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 62)

प्रश्न 26- विकलत्रय का अर्थ क्या है ? विकलत्रय जीव और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, दुःखी किस प्रकार से हैं ?

उत्तर - दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों की जिनागम में विकलत्रय संज्ञा है। ये सभी तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय जीवों की तरह ही पापप्रकृतियों के उदयविशेष से दुःखी हैं। वहाँ एकेन्द्रियों की तुलना में, ज्ञानादि किंचित् अधिक हैं; वे दुःख दूर करने का उपाय करते दिखते हैं परन्तु अनेक प्रकार से महा-दुःखी हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 65)

प्रश्न 27- नारकी तथा एकेन्द्रिय में, अधिक दुःखी कौन है ?

उत्तर - एक अपेक्षा से, नारकी तो ज्ञानी भी हो सकते हैं, सम्यक्त्व भी प्राप्त कर सकते हैं। उनका दुःख सुननेवाला कभी कोई तो मिलता है। (तीसरे नरक तक, देव

जा सकते हैं।) वे, पाँच इन्द्रियों तथा मनसहित हैं। ये सब लाभ, निगोदिया-एकेन्द्रियों को नहीं हैं। इस दृष्टि से एकेन्द्रियजीव, नारकियों से अधिक दु:खी हैं।

दूसरी अपेक्षा से, एकेन्द्रिय से, पंचेन्द्रिय संज्ञी, नियम से अनन्तगुणे दु:खी हैं क्योंकि दु:ख का कारण, असाता है और असातावेदनीय, मोहनीय के बल से ही, जीव को दु:खी करता है (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 19)।

मोहनीयकर्म अर्थात् कषाय, एकेन्द्रिय से, पंचेन्द्रियों में अनन्तगुणी होती है; अत: एकेन्द्रिय से, पंचेन्द्रिय, अनन्तगुणे अधिक कषायवाले होने से, पंचेन्द्रिय (नारकी) का दु:ख भी, एकेन्द्रिय से अनन्तगुणा है।

प्रश्न 28- क्या नरकगति में भी साता का उदय सम्भव है?

उत्तर - नरक में असातावेदनीय का वेदन लगातार 33 सागर तक बना रह सकता है। बीच में साता का वेदन होना जरूरी नहीं है, फिर भी किसी के कदाचित् हो सकता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 66)

प्रश्न 29- क्या मनुष्यों में भी लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं?

उत्तर - मनुष्यों में भी लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तकरूप पर्यायें, इस प्रकार हैं—

क्षुद्रभवरूप लब्ध्यपर्याप्त (लब्धि-अपर्याप्त) अवस्था में, शरीरपर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही, एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करके, अकथनीय वेदना सहन करता है।

एक अन्तर्मुहूर्त में होनेवाले कुल क्षुद्रभवों की संख्या, 66,336 मानी गयी है। उनमें एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के 66,132; दो इन्द्रिय के 80; तीन-इन्द्रिय के 60; चार-इन्द्रिय के 40; असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के 8; संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के 8, और मनुष्य के 8 भव होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 67)

प्रश्न 30- 'लब्ध्यपर्याप्तक' का अर्थ क्या है?

उत्तर - जिसके शरीरादिपर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं, उसे पर्याप्तकजीव तथा जिसके शरीरपर्याप्ति भी पूर्ण नहीं होती है, उसे अपर्याप्तक या लब्ध्यपर्याप्तकजीव कहते हैं। उस

अपर्याप्तकजीव के उस जन्म को क्षुद्रभव कहते हैं। वे क्षुद्रभवधारी जीव, एक श्वास जितने काल में, अठारह बार जन्म-मरण करते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह पर्याप्तियाँ हैं।
(मो.मा.प्र., पृष्ठ 66)

आहार, शरीर आदि के परमाणुओं को ग्रहण करने की शक्ति तथा उससे पुद्गलस्कन्धों की निष्पत्ति को, पर्याप्ति कहते हैं। (कार्ति. अनु., गाथा 134-135)

प्रश्न 31- यहाँ श्वास का क्या अर्थ है?

उत्तर - श्वास दो प्रकार का है—बाह्य श्वास और अभ्यन्तर श्वास। वहाँ नाक के द्वारा वायु के ग्रहण-त्याग को बाह्य श्वास कहते हैं। स्वस्थ पुरुष की, नाड़ी की फड़कन को, अभ्यन्तर श्वास कहते हैं।

प्रश्न 32- श्वास में कितने समय होते हैं?

उत्तर - काल का सूक्ष्म अंश, समय है। (जघन्य युक्त) असंख्यात समयों की एक आवली होती है। ऐसी दो हजार कोड़ाकोड़ी आवलियाँ, एक श्वास में होती हैं।

प्रश्न 33- संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, मनसहित होने से, विचारशक्तिवाले हैं फिर भी दुःखी क्यों हैं?

उत्तर - नारकी, कुछ तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं। नारकी, कृष्ण आदि अशुभलेश्यासहित अति तीव्रकषाय से, तीव्र भूख-प्यास आदि की वेदना से, महा-दुःखी हैं।

संज्ञी तिर्यंच, जिनकी आयु, श्वास के अठारहवें भागमात्र है, वे एकेन्द्रिय जीव की तरह दुःखी हैं। शेष जीवों में विषयों की अधिक इच्छा, कषाय की तीव्रता, पापप्रकृतियों का उदय होने से, वे भी महा-दुःखी होते हैं। कुछ ही के कषाय की मन्दता व पुण्यप्रकृतियों का उदय पाया जाता है परन्तु मोहवश होने से, उनके भी दुःख ही पाया जाता है।

मनुष्यों में, असंख्यात जीव तो लब्ध्यपर्याप्तक सम्मूर्छन जन्मवाले होते हैं। उनकी आयु, श्वास के अठारहवें भाग होती है। गर्भ-जन्मवालों में से कितने तो गर्भ में ही मरण को प्राप्त होते हैं। कितने ही गर्भकाल में, एकेन्द्रियवत् दुःख

भोगकर, गर्भ से बाहर निकलकर, अल्प जीवन पाकर, मरते हैं। जिनकी आयुविशेष है, वे बाल अवस्था में ज्ञान की अल्पता, विचारशक्ति की अविशेषता से दु:खी होते हैं। वृद्ध हों, तब इन्द्रियों की शिथिलता तथा धर्मसंस्कार व तत्त्वविचाररहित होने से, दु:खी होते हैं। विशेष इतना कि मध्यावस्था में भली होनहार से अपना भला करना चाहे तो उपाय बन सकता है।

देवगति में कषाय की कुछ मन्दता है परन्तु असंख्यात देव तो मिथ्यात्व से अतत्त्व-श्रद्धानी हैं, उनके उपयोग की चंचलता बहुत है। यद्यपि उनके क्रोध-मान के कारणों की हीनता है परन्तु माया-लोभ के कारणों की अधिकता है। भवनत्रिक देवों के तो कषाय की मन्दता भी नहीं है। देवों के भोगसामग्री की अनुकूलता होनेपर भी, विशेष भोग आसक्ति से, सदा काल दु:खी रहते हैं। उच्च देवों के पुण्य का उदय है, कषाय की मन्दता है तथापि इच्छा का अभाव नहीं होता; इसलिए परमार्थ से दु:खी ही हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 65)

प्रश्न 34- देवों के भी, किंचित् असाता का उदय कहा, सो कैसे है?

उत्तर - वेदनीय में साता का उदय बहुत है। वहाँ भवनत्रिक को तो थोड़ा है, वैमानिकों को ऊपर-ऊपर विशेष है; शरीर की इष्ट अवस्था; स्त्री, महल आदि सामग्री का संयोग पाया जाता है तथा कदाचित्-किंचित् असाता का भी उदय किसी कारण से होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 69)

'अहमिन्द्रों के दु:ख का कारण व्यक्त नहीं है तथापि कदाचित् असाता का उदय कहा है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 276)

सातावेदनीय का उत्कृष्ट उदीरणाकाल, छह मास है। '**सादस्स जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण छम्मासा**'—इसका अर्थ यह हुआ कि असातावेदनीय का अधिक से अधिक विरह (अन्तर) हो, तो छह मास ही रहता है।

(धवल 15/68)

फलितार्थ यह है कि सर्वार्थसिद्धि में भी, लगातार छह मास से अधिक समय तक, सुख नहीं रह सकता है, फिर उनके भी असातावेदनीय उदित होकर, दु:ख उत्पन्न करती ही है।

प्रश्न 35– स्थावरों में किसकी, कितनी आयु पायी जाती है ?

उत्तर – पाँचों स्थावरों में जघन्य आयु तो अन्तर्मुहूर्त ही होती है और उत्कृष्ट आयु, इस प्रकार है—

स्थावर		उत्कृष्ट आयु
पृथ्वीकायिक	कठोर	22000 वर्ष
	कोमल	12000 वर्ष
जलकायिक		7000 वर्ष
अग्निकायिक		3 दिन
वायुकायिक		3000 वर्ष
वनस्पतिकायिक	प्रत्येक	10,000 वर्ष
	साधारण	अन्तर्मुहूर्त

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 64)

प्रश्न 36– 'एकेन्द्रिय के कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अशुभलेश्याएँ ही कही हैं।' ऐसा स्पष्ट क्यों नहीं दिखता है ?

उत्तर – **'किसी जीव में, कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है परन्तु उसकी अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है, तो उसे मन्दकषायी कहते हैं तथा किसी जीव में, कषायों की प्रवृत्ति तो थोड़ी है परन्तु उसकी अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं।** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 276)

जैसे–व्यन्तरादि देव, कषायों से, नगर के नाशादि कार्य कर सकते हैं तथापि उनको थोड़ी कषायशक्ति से, पीतलेश्या कही है और एकेन्द्रियादि जीव, कषायकार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनको बहुत कषायशक्ति से, कृष्णादि लेश्याएँ कहीं हैं।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 63)

(ग) दुःख का सामान्यस्वरूप

प्रश्न 37- टोडरमलजी ने जो दुःख का सामान्यस्वरूप बताया, उसका लक्षण और आधार क्या है ?

उत्तर - टोडरमलजी ने दुःख के सामान्यस्वरूप में, 'जहाँ आकुलता, वहाँ दुःख'— इस प्रकार दुःख का लक्षण, आकुलता को बताया है। आकुलता, इच्छा होनेपर ही होती है; इसलिए आकुलता का आधार, इच्छा को बताया है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 70)

प्रश्न 38- इच्छा कितने प्रकार की है और उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर - इच्छा, असंख्यात लोकप्रमाण प्रकार की होती है। टोडरमलजी ने जाति अपेक्षा, इच्छाएँ चार प्रकार की बतायी हैं—(1) विषयग्रहण की इच्छा, (2) कषाय के अनुसार कार्य करने की इच्छा, (3) पाप के उदय को दूर करने की इच्छा तथा (4) पुण्य के उदयानुसार प्रवर्तन की इच्छा।

(1) जिसके होनेपर, यह जीव, देखना-जानना चाहता है, उस इच्छा को विषयग्रहण की इच्छा जानना। जैसे-वर्ण को देखने, राग को सुनने, अव्यक्त को जानने की इच्छा।

(2) कषाय होनेपर, उस कषायभाव के अनुसार कार्य करने की इच्छा को, कषाय इच्छा जानना। जैसे-क्रोधकषाय होनेपर, अन्य का बुरा करने की इच्छा।

(3) शरीर में या बाह्य में प्रतिकूल कारणों के मिलने पर, उन कारणों को दूर करने की इच्छा को, पाप का उदय नाम की इच्छा जानना। जैसे-भूख, रोग आदि होनेपर, उनको दूर करने (मिटाने) की इच्छा।

(4) पुण्य का उदय होनेपर, उक्त तीन इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तन की इच्छा को, पुण्य का उदय नाम की इच्छा जानना। जैसे-पुण्य के उदय से प्राप्त पदार्थ को देखना; उसे छोड़कर, गीत-संगीत सुनना; उसे छोड़कर, किसी का बुरा करने लग जाना; उसे छोड़कर, भोजन आदि करना इत्यादि। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 70)

प्रश्न 39- क्या इन्द्रियाँ बढ़ने के साथ-साथ, ज्ञान बढ़ने का भी नियम है?

उत्तर - हाँ! इन्द्रियाँ, उस इन्द्रियवान जीव के, ज्ञान का प्रमाण निश्चित करती हैं; इसीलिए ज्ञान बढ़ने का मापदण्ड, इन्द्रियों के बढ़ने से है।

जैसे-**स्पर्शनइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र** - एकेन्द्रिय का 400 धनुष; दो इन्द्रिय का 800 धनुष; त्रीन्द्रिय का 1600 धनुष; चतुरिन्द्रिय का 3200 धनुष; असंज्ञी पंचेन्द्रिय का 6400 धनुष, तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय का 9 योजन है।

प्रश्न 40- यह कैसे निश्चित कर सकते हैं कि अधिक इन्द्रियवान जीव, अधिक मिथ्यात्व-कषाय कर सकता है?

उत्तर - यह नियम है कि ज्यों-ज्यों इन्द्रियाँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों मिथ्यात्व-कषाय करने की क्षमता भी बढ़ती है। यथा—

इन्द्रिय	1	2	3	4	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	संज्ञी पंचेन्द्रिय
दर्शनमोह का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (सागर)	1	25	50	100	1000	70 कोड़ाकोड़ी

मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति का उपाय

प्रश्न 41- मोक्ष में ही सुख क्यों है और उसका उपाय क्या है?

उत्तर - दु:ख का तथा दु:ख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से, मोक्ष में सदा काल अनुपम-अखण्ड-सर्वोत्कृष्ट आनन्दसहित अनन्त काल के लिये विराजमानपना होने से, मोक्ष में ही सुख है।

सम्यग्दर्शनादि के साधन से, मोक्ष की प्राप्ति होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 72)

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न तातैं, शिव-मग लाग्यौ चहिये॥

(छहढाला, तीसरी ढाल, प्रथम छन्द)

प्रश्न 42– इस अध्याय के अन्त में, पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने क्या शिक्षा दी है ?

उत्तर – हे भव्य! हे भाई!! तुझे संसार के दुःख दिखाए, वे तुझ पर बीतते हैं या नहीं, वह विचार! और तू जो उपाय करता है, उन्हें झूठा दिखाया, वे ऐसे हैं या नहीं, वह विचार !! तथा सिद्धपद प्राप्त होनेपर, सुख होता है या नहीं, उसका विचार कर !!! यदि तुझे जैसा कहा है, वैसी ही प्रतीति आती हो तो, तू संसार से छूटकर, सिद्धपद प्राप्त करने का जो उपाय हम कहते हैं, वह कर! विलम्ब मत कर!! यह उपाय करने से, तेरा कल्याण होगा!!!

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 75)

—oo—

चौथा अधिकार

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनि की सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाव॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार के मङ्गलाचरण का क्या आशय है?

उत्तर - संसार के सभी दुःखों के मूलकारण, मिथ्याभाव हैं; उन मिथ्याभावों का अभाव होनेपर ही, मोक्ष का मार्ग (उपाय) प्रकट होता है।

प्रश्न 2- इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर - इस अधिकार में मुख्यरूप से **मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र** का स्वरूप बताया गया है।

प्रश्न 3- पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने, मिथ्यादर्शनादि के वर्णन करने का क्या कारण बताया है?

उत्तर - जैसे-रोगी को रोग के कारणों को बतानेपर, वह कुपथ्य का सेवन नहीं करता; वैसे ही ज्ञानियों द्वारा जीव को संसार के कारणों को बतानेपर, वह मिथ्यात्वादि का सेवन नहीं करेगा; इसलिए मिथ्यादर्शनादि का वर्णन किया है।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

प्रश्न 4- मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर - अतत्त्वश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 76)

प्रश्न 5- मिथ्यादर्शन को और किन-किन नामों से कहा जाता है?

उत्तर - मिथ्यादर्शन को, मिथ्यात्व तथा अदर्शन नाम से भी कहा जाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 84)

प्रश्न 6- 'दर्शन' शब्द के कितने अर्थ हैं और उनका कारण क्या है?

उत्तर - 'दर्शन' शब्द के मुख्य अर्थ, निम्न सारणी के माध्यम से देखे जा सकते हैं—

अर्थ	कारण
1 सामान्य-अवलोकन	दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम
2 श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)	दर्शनमोहकर्म का/ उपशम/ क्षयोपशम/ क्षय
3 देव आदि का दर्शन	ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम (चक्षु-इन्द्रिय सम्बन्धी)
4 विचारधारा (Philosophy)	—

प्रश्न 7- मिथ्यादर्शन शब्द में, 'दर्शन' शब्द का अर्थ, शास्त्रों में 'श्रद्धान' क्यों किया है?

उत्तर - 'दर्शन' शब्द, दृश् धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना है। यहाँ प्रकरण संसार-मोक्ष का है। इस प्रकरण में देखना (सामान्य अवलोकन) अर्थ, स्वीकार करें तो वह संसार-मोक्ष का कारण नहीं है; अतः यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ, श्रद्धान ही जानना तथा मिथ्यादर्शन का अर्थ, मिथ्याश्रद्धान जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 76)

प्रश्न 8- केवलज्ञान के बिना, सर्व पदार्थों को जानना सम्भव नहीं है; उसके अभाव में मिथ्यादर्शन का नाश कैसे हो ?

उत्तर - मिथ्यादर्शन के नाश के लिए, सर्व को जानना जरूरी नहीं है; प्रयोजनभूत पदार्थों को जानना ही जरूरी है। प्रयोजनभूत पदार्थों को जाननेयोग्य क्षयोपशम (ज्ञान), सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के पाया जाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 77)

प्रश्न 9- विश्व में, जीवादि छह पदार्थ हैं। इनमें प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - विश्व में, जाति-अपेक्षा, जीवादि छह पदार्थ ही हैं, उनमें से जिनको यथार्थ जानने से, सुख हो; जिनको न जानने से या अयथार्थ जानने से, दु:ख हो, उनको प्रयोजनभूत पदार्थ कहा है तथा जिनके ज्ञान-श्रद्धान का, सुख-दु:ख से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनको अप्रयोजनभूत पदार्थ कहा है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 79)

प्रश्न 10- वे, प्रयोजनभूत पदार्थ कौन-से हैं, जिनके ज्ञान-श्रद्धान से जीव के सुख -दु:ख का सम्बन्ध है ?

उत्तर - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं। जिनके ज्ञान-श्रद्धान से, जीव के सुख-दु:ख का सम्बन्ध है; उन्हें ही यहाँ प्रयोजनभूत पदार्थ कहा गया है।

प्रश्न 11- वे सात पदार्थ, प्रयोजनभूत कैसे कहे हैं ?

उत्तर - जिसको सुखी होना है, जिसको अपना दु:ख दूर करना है, वह आप स्वयं जीवपदार्थ है। जीव, अजीव से भिन्न है, तब अजीव को जाने बिना, उससे स्वयं को (जीव को) भिन्न कैसे पहिचाने ? जिसका नाश करना है, जो दु:खरूप है, वह आस्रवपदार्थ है। संसार के बन्धनरूप बन्ध; उसे जाने बिना, उससे मुक्त कैसे हो ? आस्रव का शत्रु या आस्रवरोग की औषधि, संवर है; बन्ध का एकदेश अभाव होना, निर्जरा, तथा उसका पूर्ण अभाव, मोक्ष, अर्थात् जीव को मोक्ष प्राप्त करानेवाले, ये सात ही पदार्थ हैं; इसलिए ये प्रयोजनभूत हैं।

प्रश्न 12- अपना दु:ख दूर करने के लिए सबसे पहले क्या आवश्यक है ?

उत्तर - प्रथम तो दु:ख दूर करने में **आपा-पर का ज्ञान** अवश्य होना चाहिए। यदि **आपा-पर का ज्ञान** नहीं हो तो 'आप को पहिचाने बिना, अपना दु:ख कैसे दूर करे ?' अथवा आपा-पर को एक जानकर, अपना दु:ख दूर करने के लिए, पर का उपचार करे, तो अपना दु:ख दूर कैसे हो ? अथवा आप से पर, भिन्न हैं परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे, उससे दु:ख ही होता है; इसलिए **आपा-पर का ज्ञान** होनेपर ही, दु:ख दूर होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 78)

प्रश्न 13- मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति, कैसे पायी जाती है ?

उत्तर - जीवादि सात तत्त्वों के अयथार्थ श्रद्धान से, मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति पायी जाती है।

प्रश्न 14- वर्तमान में मनुष्यभव मिलनेपर भी, दु:ख का मूलकारण क्या है ?

उत्तर - मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी जीव, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता।

यथा—एक तो आप (स्वयं) आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर; उनके एक पिण्ड बन्धानरूप है।

वहाँ जीव को उस पर्याय (असमानजातीयद्रव्यपर्याय) में, 'यह मैं हूँ'—ऐसी अहंबुद्धि होती है।

तथा 'आप, जीव है, उसके स्वभाव तो ज्ञानादि हैं और विभाव, क्रोधादि हैं तथा पुद्गलपरमाणुओं के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि स्वभाव हैं'; उन सबको अपना स्वरूप मानता है और 'ये मेरे हैं'—ऐसी ममबुद्धि होती है।

वहाँ 'आप, **जीव** है, उसके ज्ञानादि की और क्रोधादि की अधिकता-हीनतारूप अवस्था होती है तथा पुद्गलपरमाणुओं की वर्णादि पलटनेरूप अवस्था होती है, उन सबको अपनी अवस्था मानता है', उनमें '**यह मेरी अवस्था है'—ऐसी ममबुद्धि करता है।**

इस जीव को मनुष्यभव मिलनेपर भी, जो शरीरादि परद्रव्यों में अहंबुद्धि व ममत्वबुद्धि होती है, वही दु:ख का मूलकारण है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 80)

सात तत्त्वसम्बन्धी, जीव की भूल

प्रश्न 15- 'तत्त्व' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर - 'तत्त्व' शब्द, दो शब्दों को मिलाकर बना है—तत् और त्व। वहाँ तत् का अर्थ, पदार्थ तथा त्व का अर्थ, पदार्थ का भाव है। भावसहित पदार्थ को तत्त्व कहते हैं। इस तथ्य का उल्लेख पण्डितजी ने चौथे अधिकार के साथ-साथ, नौवें अधिकार में भी किया है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 76, 315-316)

प्रश्न 16- सात तत्त्वसम्बन्धी भूल का प्रकरण, पण्डितजी ने कहाँ-कहाँ लिखा है, उनमें क्या विशेषता है ?

उत्तर - सात तत्त्वसम्बन्धी भूल का प्रकरण, दो जगह लिखा गया है। एक तो चौथे अधिकार में, जो कि अगृहीत-मिथ्यात्वरूप है। ये भूलें, निगोदिया से लेकर, पंचेन्द्रियपर्यंत सभी मिथ्यादृष्टियों में हैं। ये अनादि काल से चली आ रही हैं।

दूसरे, सातवें अधिकार में जो कि गृहीत -मिथ्यात्वरूप में, नवीन पैदा हुईं हैं। ये भूलें, जैनशास्त्रों को पढ़नेपर भी, मिथ्यात्व रह जानेवाले जीवों के बनी रहती हैं।

प्रश्न 17- सात तत्त्वसम्बन्धी भूल, किस गुण की पर्याय है ?

उत्तर - सात तत्त्वसम्बन्धी भूल, जीव के श्रद्धागुण की, विकारीपर्याय है। ज्ञान के विपरीत निर्णय के कारण, श्रद्धा में ऐसी विपरीतता आती है क्योंकि '**जानेगा तो श्रद्धान करेगा**'।

प्रश्न 18- जीवतत्त्वसम्बन्धी तथा अजीवतत्त्वसम्बन्धी मूल में भूल, और इनमें मौलिक अन्तर क्या है ?

उत्तर - जीव को अजीवरूप मानना (एकत्व); जीव को अजीव का स्वामी मानना (ममत्व); जीव को अजीव का कर्ता मानना (कर्तृत्व) तथा जीव को अजीव का भोक्ता मानना (भोक्तृत्व)—**ये जीवतत्त्वसम्बन्धी भूलें हैं।**

अजीव को जीवरूप मानना; अजीव को जीव का स्वामी मानना; अजीव को जीव का कर्ता मानना तथा अजीव को जीव का भोक्ता मानना—**ये**

अजीवतत्त्वसम्बन्धी, जीव की भूलें हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-८०)

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरति चिन्मूरति अनूप।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करैं देह में निज पिछान॥
मैं सुखी-दु:खी मैं रंक-राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।'

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 2, 3, 4, 5)

प्रश्न 19- क्या आत्मा को जीवतत्त्व कहा जा सकता है?

उत्तर - हाँ! यदि इसी आत्मा को हम '**अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु; स्पर्शादि गुणों से रहित, शरीर तथा उसकी पर्यायों से सर्वथा पृथक् रूप में**', अपनी वस्तु देखें तो यही आत्मा, जीव नामक **प्रयोजनभूत तत्त्व** है। इस प्रकार इसे जीवतत्त्व कहने में कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न 20- धन, दौलत, गाड़ी, बँगला—ये सब कौन से तत्त्व हैं?

उत्तर - प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में धन, दौलत, गाड़ी अथवा बँगला नाम का तो कोई तत्त्व ही नहीं है।

यदि इन्हीं पौद्गलिक वस्तुओं को, इस दृष्टि से देखा जाए कि इनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है; इनमें मेरा सुख-दु:ख भी नहीं है; मैं इनका स्वामी, कर्ता, भोक्ता नहीं हूँ; इनमें इष्टता अथवा अनिष्टता नहीं है; ये मुझसे भिन्न, पृथक् ज्ञेयतत्त्व हैं - तो धनादि को अजीवतत्त्व की संज्ञा प्राप्त होती है और धनादि का समावेश, **प्रयोजनभूत तत्त्व** के अन्तर्गत, अजीवतत्त्व में हो जाता है।

धनादि का इस प्रकार का ज्ञान, कार्यकारी (हमारे सुख में कारणभूत) होने से, ये ही धनादि (अजीव), प्रयोजनभूततत्त्व कहलाते हैं।

प्रश्न 21- क्या रागादि को भी, प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूततत्त्व में समाहित किया जा सकता है?

उत्तर - यदि हम रागादि को परकृत मानते हैं; उसे जीव का स्थायीभाव मानते हैं; जीव का रागादि के बिना, अस्तित्व ही नहीं मानते, तो इस प्रकार के रागादि के ज्ञान से, रागादि, **अप्रयोजनभूततत्त्व** की संज्ञा पाते हैं क्योंकि उससे हमारे सुखी होने के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

यदि हम रागादि को, पर के निमित्त से तथा अपने अपराध से हुईं अपनी विकृति मानकर, उनको मिटाने की दिशा में आत्मसम्मुखता का प्रयास करते हैं, तो इस प्रकार का ज्ञान, हमारे सुखी होने के प्रयोजन की सिद्धि करने से, रागादि को **आस्रव नामक प्रयोजनभूततत्त्व** की संज्ञा प्राप्त होती है।

प्रश्न 22- जीव की, आस्रवतत्त्वसम्बन्धी क्या भूल है?

उत्तर - जीव अथवा अजीव, कोई भी परपदार्थ, आत्मा का किंचित् भी सुख-दुःख, सुधार-बिगाड़, इष्ट-अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। परद्रव्य, जीव को लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें प्रीति-अप्रीति (राग-द्वेष) करता है; मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता; परपदार्थ, मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं—ऐसा मानता है।

कषायभावों को स्वभाव जानना; दुःखमय, दुःखदायक, अपने स्वभावभाव से भिन्न कर्मोपाधिरूप न जानना—आस्रवतत्त्वसम्बन्धी, जीव की भूल है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 82)

पर में कर्तृत्व, ममत्वरूप मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव, प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, बन्ध के ही कारण हैं तथापि अज्ञानी जीव, उन्हें सुखकर जानकर, सेवन करता है और शुभभाव के बन्ध का कारण होनेपर भी, उन्हें हितकर मानता है। **अर्थात् जो आस्रवादि, दुःखरूप हैं, उन्हें सुखरूप मानता है और जो परद्रव्य, मात्र ज्ञेय हैं, उन्हें दुःखरूप मानता है।**

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-82)

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।'

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 5)

प्रश्न 23- जीव की, बन्धतत्त्वसम्बन्धी क्या भूल है?

उत्तर - पूर्व में बँधे हुए कर्मों के उदयादि से होनेवाले कार्यों का, अपने को या अन्य को कर्ता मानना तथा जब आप या अन्य का कर्तापना न दिखे, तब भवितव्य मानना, परन्तु उन कार्यों का कर्ता, कर्मों के उदयादि को न मानना-यह जीव की, बन्धतत्त्वसम्बन्धी भूल है।

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'शुभ अशुभ बन्ध के फल मँझार, रति अरति करै निज पद बिसार।'

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 6)

प्रश्न 24- पुण्य-पाप तो आस्रवादि तत्त्वों में गर्भित हैं, उनको अलग से क्यों कहा?

उत्तर - पुण्य और पाप, आस्रवादि तत्त्वों में ही गर्भित हैं परन्तु विशेष जानकर, अलग से कहे हैं। यह जीव, दोनों को, आकुलता के कारण नहीं मानता है। पुण्य के कारणभूत शुभभाव को, भला तथा पाप के कारणभूत अशुभभाव को, बुरा मानना, भ्रम ही है—यह समझाने के लिए, इन्हें पृथक् से कहा है।

प्रश्न 25- 'पुण्य-पाप सम्बन्धी अयथार्थश्रद्धान' प्रकरण में, पुण्य-पाप की एक जाति कहने का क्या आशय है?

उत्तर - भासित होनेवाले प्रत्येक विरोध को ध्वंस करने के लिए, स्याद्वाद ही शरण है। स्वयं पण्डितजी ने अरहन्त के स्वरूप में, भक्ति (पुण्य) को समस्त कषाय मिटाने का **साधन** तथा शुद्धपरिणाम का **कारण** कहकर, पुष्ट किया है; यहाँ पुण्य की कथंचित् उपादेयता सिद्ध हुई। पुण्यभाव (आकुलतामयी होने से), हेय हैं यह कथन सम्यक्श्रद्धा की अपेक्षा से है। इसे हम, निम्न तालिका द्वारा समझ सकते हैं —

अपेक्षा	हेय / ज्ञेय / उपादेय
सम्यग्श्रद्धा	पुण्य-पाप, दोनों हेय।
सम्यग्ज्ञान	राग / जड़कर्म, दोनों-ज्ञेय।
सम्यक्चारित्र	साधक दशा में प्रवृत्ति की अपेक्षा, कथंचित् हेय; कथंचित् उपादेय।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-84)

प्रश्न 26- जीव की, संवरतत्त्वसम्बन्धी क्या भूल है?

उत्तर - संवर का सुखरूपपना भासित नहीं होना, जीव की, संवरतत्त्व के विषय में भूल है।

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान।'

(छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 6)

प्रश्न 27- संवरतत्त्व को प्रयोजनभूततत्त्व कहना, कब सम्भव है?

उत्तर - जिन विशेषोंसहित, संवर का यथार्थ श्रद्धान हो, वीतरागता की प्रकटता / उपादेयता का श्रद्धान हो, उस सुख की उत्पत्ति में कारण, ऐसे विशेषोंसहित संवरतत्त्व को, प्रयोजनभूततत्त्व कहना सम्भव है।

प्रश्न 28- जीव की निर्जरातत्त्वसम्बन्धी क्या भूल है?

उत्तर - बन्ध को दु:खरूप जानकर, उसकी निर्जरा के लिए प्रयत्न न करके; बाह्य पदार्थों को दु:खरूप जानकर, उनका अभाव करने का उपाय करना— निर्जरातत्त्व- सम्बन्धी, जीव की भूल है।

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'रोके न चाह निज शक्ति खोय।' (छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 7)

प्रश्न 29- जीव की, मोक्षतत्त्वसम्बन्धी क्या भूल है?

उत्तर - बाह्य पदार्थों को दु:ख का कारण जानकर, उन्हीं के अभाव करने का प्रयत्न करना, परन्तु कर्मों और उसकी फलदानशक्ति को, दु:खरूप न जानने से, कर्मों के अभाव का प्रयत्न न करना—जीव की, मोक्षतत्त्वसम्बन्धी भूल है।

कविवर पण्डितश्री दौलतरामजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा है—

'शिवरूप निराकुलता न जोय।' (छहढाला, दूसरी ढाल, छन्द 7)

प्रश्न 30– 'कथंचित्' तथा 'किंचित्' शब्द का अर्थ बताएँ?

उत्तर – भाषाकोश के अनुसार–'किंचित्' का अर्थ–एकदेश; सर्वथा नहीं; कुछ; क्षणिक; अल्पमात्रा में, होता है। तथा 'कथंचित्' शब्द का अर्थ–किसी अपेक्षा अथवा शायद, होता है।

1. **किंचित्**—जहाँ किन्हीं (कुछ) कर्मप्रकृतियों का खिर जाना होता है अथवा जहाँ सर्व कर्मप्रकृतियाँ नहीं खिरती हैं।
2. **कथंचित्**—किसी अपेक्षा से अर्थात् आगम में अनेक स्थानोंपर, शुभभाव (पुण्य) को, पाप की निर्जरा का कारण बताया है। यह एक अपेक्षाकृत कथन है। वास्तव में तो शुद्धोपयोग ही निर्जरा का कारण है। (मो.मा.प्र. 358)

प्रश्न 31– 'सर्वथा सर्व कर्मबन्ध का अभाव होना, उसका नाम मोक्ष है'—इस वाक्य में 'सर्वथा' तथा 'सर्व' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – **सर्व** कर्मबन्ध का अभाव अर्थात् आठों कर्मों (प्रकृतियों) का अभाव होना है।

कर्मबन्ध का **सर्वथा** अभाव अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप बन्ध का सदा के लिए पूर्णतया नाश होना है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ–79)

मिथ्याज्ञान का स्वरूप

प्रश्न 32– ज्ञान को, मिथ्याज्ञान संज्ञा, कब है?

उत्तर – अप्रयोजनभूत पदार्थों को, यथार्थ या अयथार्थ जानने से, ज्ञान की, मिथ्याज्ञान संज्ञा नहीं है परन्तु प्रयोजनभूत पदार्थों को, अयथार्थ जानने से, ज्ञान की, मिथ्याज्ञान संज्ञा है।

प्रश्न 33– मिथ्याज्ञान को और किन-किन नामों से कहा जाता है और क्यों?

उत्तर – मिथ्याज्ञान को अज्ञान और कुज्ञान नामों से कहा जाता है। उसमें तत्त्वज्ञान

का अभाव होने से, उसे अज्ञान तथा वह अपना प्रयोजन नहीं साधता; इसलिए उसे कुज्ञान कहा जाता है।

प्रश्न 34– जानने में जितना अयथार्थपना है, उतना तो ज्ञानावरण के उदय से और जो यथार्थपना है, उतना ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है – इसका आशय क्या है?

उत्तर – यहाँ **ज्ञानावरण के उदय** का अर्थ, ज्ञानावरण के देशघातिस्पर्धकों का उदय (क्षयोपशम का अंश)—समझना चाहिए, क्योंकि सर्वघातिस्पर्धकों के उदय में तो अज्ञान (औदयिकभाव) होता है।

यहाँ **ज्ञानावरण के क्षयोपशम** का अर्थ, ज्ञानावरण के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावीक्षय तथा उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम—होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-86)

प्रश्न 35– मिथ्याज्ञान का कारण, ज्ञानावरणकर्म को न कहकर, मिथ्यात्व को क्यों कहा?

उत्तर – जैसे–विष के संयोग से, भोजन को विष कहते हैं; वैसे ही मिथ्यात्व के सम्बन्ध से, ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं।

ज्ञानावरणकर्म के उदय से तो अभावरूप, अज्ञानभाव होता है; ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से, किंचित् जाननेरूप ज्ञानभाव होता है—ये दोनों भाव, ज्ञानी–अज्ञानी दोनों के होते हैं; इसलिए ज्ञानावरणकर्म को सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान का कारण नहीं कहा। मिथ्यात्व से, मिथ्याज्ञान तथा सम्यक्त्व से, सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-86)

प्रश्न 36– शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के सर्व ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि के सर्व ज्ञान को, मिथ्याज्ञान क्यों कहा है?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को, पदार्थों की सत्ता–असत्ता का व्यवस्थित ज्ञान होने से, उसके ज्ञान में कारणविपर्यय–स्वरूपविपर्यय–भेदाभेदविपर्यय नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि को, पदार्थों की सत्ता–असत्ता का व्यवस्थित ज्ञान न होने से, उसके ज्ञान में उक्त तीनों विपर्यय होते हैं; इसलिए शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के सर्व ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि के सर्व ज्ञान को, मिथ्याज्ञान कहा है।

प्रश्न 37– स्वरूपविपर्यास क्या है ?

उत्तर – मिथ्यादृष्टि, समस्त तत्त्वों को, स्वरूपविपर्यास से युक्त जानता है अर्थात् तत्त्व का जैसा स्वरूप है, वैसा न जानकर, अन्यस्वरूप जानता (मानता) है। वह निम्न प्रकार विपर्यास करता है —

1. **जीवतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास**—अज्ञानी, जीव को, स्पर्शादिरूप तथा शीत–उष्ण आदि पर्यायरूप मानता है; वह, जीव को जन्म–मरणवाला मानता है। स्वयं को अमूर्तिक, ज्ञानानन्दस्वभावी, अनादि–अनन्त स्वरूप नहीं मानकर, इससे विपरीत मानता है।
2. **अजीवतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास**—अज्ञानी, अजीव (परद्रव्य) को, अपने सुख–दुःखरूप मानता है; पर के संयोग–वियोग में अपना अस्तित्व–नाश मानता है। अजीव को अपने से भिन्न, अपने ज्ञान–दर्शन तथा सुख–दुःख से रहित मानने के बजाए, इससे विपरीत मानता है।
3. **आस्रवतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास**—आस्रव, दुःखरूप होते हुए भी,अज्ञानी उसे सुखरूप मानता है।
4. **बंधतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास**—बन्ध, दुःख का कारण होते हुए भी, अज्ञानी उसे सुख का कारण मानता है।
5. **संवर–निर्जरा–मोक्षतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास**—संवर, सुख की उत्पत्ति; निर्जरा, सुख की वृद्धि; मोक्ष, सुख की पूर्णतास्वरूप होते हुए भी, अज्ञानी उन्हें दुःख की उत्पत्ति, दुःख की वृद्धि, दुःख की पूर्णतास्वरूप मानता है।

यह मिथ्यादृष्टि जीव का, संवर–निर्जरा–मोक्षतत्त्वसम्बन्धी स्वरूपविपर्यास है।

प्रश्न 38– कारणविपर्यास क्या है ?

उत्तर – मिथ्यादृष्टि जीव, समस्त तत्त्वों को, कारणविपर्यास से सहित जानता / मानता है। किसी कार्य का कारण, किसी और कार्य के कारण के रूप में अर्थात् अन्य पदार्थरूप में मानता है। वह अन्यथा कारण से, कार्य का तथा कारण से, अन्यथा कार्य का होना मानता है। वह, निम्न प्रकार मानता है—

1. **जीवतत्त्वसम्बन्धी कारणविपर्यास**—जीव, अपनी मान्यतानुसार स्वयं का ही हित–अहित करता है—ऐसा वस्तुस्वरूप होते हुए भी, मिथ्यादृष्टि, स्वयं को, अन्य के जीवन–मरण तथा सुख–दु:ख का कारण मानता है। परिवार, समाज, देश के लालन–पालन आदि का कर्ता, स्वयं को मानता है। यही जीवतत्त्व–सम्बन्धी कारणविपर्यास है।
2. **अजीवतत्त्वसम्बन्धी कारणविपर्यास**—जीव के जीवन–मरण का कारण, जीव की अपनी स्वयं की योग्यता तथा अपने आयुकर्म का उदय–क्षय है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव, अपने जीवन–मरण का कारण, बाह्य पदार्थों को मानता है। इसी प्रकार जीव का सुख–दु:ख, जीव की ही अपनी स्वतन्त्र योग्यता है परन्तु वह अपना सुख–दु:ख, धन, दौलतादि परद्रव्य के कारण मानता है।
3. **आस्रवतत्त्वसम्बन्धी कारणविपर्यास**—रागादिभाव, अपनी अस्थिरता / असावधानी से होते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव, वस्तुओं में इष्ट–अनिष्ट कल्पना करके, उनको अपने रागादि का कारण मानता है अथवा आस्रव को दु:ख का कारण होते हुए भी, सुख का कारण मानता है।
4. **बन्धतत्त्वसम्बन्धी कारणविपर्यास**—जीव को अपने विकारीभाव ही बन्ध में कारण हैं लेकिन मिथ्यादृष्टिजीव, परद्रव्य (बाह्यप्रवृत्ति) से, बन्ध की कल्पना करता है अथवा बन्ध को सुख का कारण मानता है।
5. **संवर, निर्जरा तथा मोक्षतत्त्वसम्बन्धी कारणविपर्यास**—जीव को अपने वीतरागभाव की उत्पत्ति, वृद्धि तथा पूर्णता ही, सुख में कारण होते हुए भी, मिथ्यादृष्टि जीव, परद्रव्य (बाह्यप्रवृत्ति) से संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की कल्पना करता है अथवा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष को, दु:ख की उत्पत्ति, वृद्धि तथा पूर्णता में कारण मानता है।

प्रश्न 39– भेदाभेदसम्बन्धी विपर्यास क्या है?

उत्तर – 1. **जीव-अजीवतत्त्वसम्बन्धी भेदाभेदविपर्यास—**मिथ्यादृष्टि, तत्त्वों को अन्य तत्त्वों से, जैसी भिन्नता–अभिन्नता मानना जरूरी है, वैसी नहीं मानता है; यही

उसका भेदाभेदविपर्यास है। जैसे-जीव, अजीव से सर्वथा भिन्न है परन्तु प्रयोजन सिद्धि के लिए, व्यवहारनय से दोनों को एक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में अज्ञानी, दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ न समझता हुआ, या तो दोनों का एक स्वरूप मानता है या दोनों का आपसी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं स्वीकारता है।

2. **आस्रव-बन्धतत्त्वसम्बन्धी भेदाभेदविपर्यास**—जीव, आस्रव-बन्ध से, कथंचित् भिन्न है तथा कथंचित् अभिन्न है। जीव का त्रिकाल स्वरूप नहीं होने से तथा हेयतत्त्व होने से, आस्रव-बन्ध को जीव से भिन्न कहा गया है तथा जीव का ही अपना अपराध होने से, उसे हटाने की जिम्मेदारी भी जीव की ही होने से तथा जीव के अपने अस्तित्व में होने से, आस्रव-बन्ध को जीव से अभिन्न कहा जाता है।

   अज्ञानी, इन विवक्षाओं को न समझता हुआ, किसी एक का एकान्त करके, भेदाभेदविपर्यास करता है। दूसरी विवक्षा में, आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष में भी अभेद (समानता) मानता हुआ, विपर्यास को प्राप्त होता है।

3. **संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्वसम्बन्धी भेदाभेदविपर्यास**—जीव, संवर-निर्जरा-मोक्ष से कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न है। जीव की ही अपनी पर्याय होने से तथा प्रकट करने की अपेक्षा, उपादेय होने से, संवर-निर्जरा-मोक्ष को, अभिन्न कहा जाता है। क्षणिक होने से, आश्रय करनेयोग्य नहीं होने से, संवर-निर्जरा-मोक्ष को, जीव से भिन्न कहा जाता है।

   अज्ञानी, ऐसा न मानता हुआ, किसी एक ही का एकान्त करके, विपर्यास कर बैठता है अथवा दूसरी विवक्षा से, संवर-निर्जरा-मोक्ष तथा आस्रव-बन्ध में कुछ अन्तर न समझते हुए, उन्हें अभिन्न मान बैठता है।

प्रश्न 40- क्या मिथ्याज्ञान में, ज्ञानावरणकर्म के उदय का कुछ भी योगदान नहीं है?

उत्तर - मिथ्याज्ञान के होने में, ज्ञानावरणकर्म के उदय का भी योगदान है परन्तु मात्र, असंज्ञी तक के जीवों को, क्योंकि उनके ज्ञान में इतना विकास ही नहीं है कि

वे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर सकें। हाँ, संज्ञी पंचेन्द्रियों में तत्त्वविचार, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है; अत: संज्ञियों के मिथ्याज्ञान में, एकमात्र दर्शनमोहनीय के उदय का ही निमित्त है।

पण्डितजी लिखते हैं—'**जहाँ एकेन्द्रियादि में, जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानने की शक्ति ही न हो, वहाँ तो ज्ञानावरण का उदय और मिथ्यात्व के उदय से हुआ मिथ्यादर्शन, इन दोनों का निमित्त है। तथा जहाँ संज्ञी मनुष्यादि में, क्षयोपशमादि लब्धि होने से, शक्ति हो और न जाने, वहाँ मिथ्यात्व के उदय का ही निमित्त जानना।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 87)

प्रश्न 41- क्या इन्द्रियसुख तथा दु:ख का वेदन, युगपत् सम्भव है?

उत्तर - छद्मस्थ (बारहवें गुणस्थान तक) जीवों के साता तथा असाता वेदनीयकर्म में से, किसी एक का ही उदय सम्भव है; इसीलिए एक समय में, इन्द्रियसुख तथा दु:ख का युगपत् वेदन असम्भव है।

घर में कई अनुकूल तथा प्रतिकूल सामग्री होनेपर भी, दोनों का युगपत् भोग, असम्भव है।

पण्डितजी लिखते हैं—'**जिसको असातावेदनीय का उदय हो, वह दु:ख के कारणभूत जो हों, उन्हीं का वेदन करता है; सुख के कारणभूत पदार्थों का वेदन नहीं करता।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 87)

प्रश्न 42- ज्ञान तथा श्रद्धान में, कारण-कार्य सम्बन्ध का क्या नियम है?

उत्तर - आदरणीय पण्डितजी के अनुसार —

'**जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण होता है, वहाँ तो ज्ञान, कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान, कार्यभूत है, उसे बाद में कहना; लेकिन जहाँ मिथ्या-सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो, वहाँ श्रद्धान, कारणभूत है, उसे पहले कहना और ज्ञान, कार्यभूत है, उसे बाद में कहना।**'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 87)

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

प्रश्न 43- मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं और क्यों ?

उत्तर - कषायभावों को मिथ्याचारित्र कहते हैं क्योंकि कषायभावों के होनेपर, जीव का स्वभाव जो जानना-देखना है, वह, उसरूप प्रवृत्ति नहीं करता है; अन्यथारूप प्रवर्तता है।

प्रश्न 44- पण्डित टोडरमलजी के अनुसार, मिथ्याचारित्र को किन-किन नामों से कहा जाता है और क्यों ?

उत्तर - पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, मिथ्याचारित्र को अचारित्र, असंयम, अविरति तथा अव्रत नामों से कहा जाता है।

मिथ्याचारित्र में स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव होने से, उसे अचारित्र कहा है। उसमें राग-द्वेष के परिणाम मिटते नहीं अथवा उनसे विरक्ति नहीं होने से, उसे असंयम या अविरति कहा है। हिंसादि पापकार्यों के अव्रतपरिणतिरूप होने से, उसे अव्रत कहते हैं।

प्रश्न 45- मिथ्याचारित्र में क्या होता है ?

उत्तर - मिथ्याचारित्र में राग-द्वेष होते हैं तथा वे राग-द्वेष, विस्तार को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 46- राग-द्वेष के विस्तार का क्या आशय है ?

उत्तर - जो जीव, एक के प्रति राग अथवा द्वेष करता है, वह जीव, परम्परारूप से अनन्तों के प्रति, राग और द्वेष करता है। ऐसे अनन्त राग-द्वेष की प्रकटता तो देखने में नहीं आ सकती, परन्तु सूक्ष्मता से विचारें तो, अबुद्धिपूर्वक अनन्तों के प्रति राग-द्वेष पड़ा ही रहता है।

प्रश्न 47- क्या ज्ञानी जीव के कषायभावों की भी, मिथ्याचारित्र संज्ञा है ?

उत्तर - ज्ञानी जीव के कषायभावों की मिथ्याचारित्र संज्ञा नहीं है क्योंकि वह, कषायभावों को ज्ञेय जानकर, जानने-देखनेरूप स्वभावरूप ही प्रवृत्ति करता है। ज्ञानी के कषायभावों को असंयम या अचारित्र कहते हैं।

प्रश्न 48- मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्या-क्या पर्यायवाची नाम हैं, सहेतुक लिखें?

उत्तर -

विकार	नाम	हेतु
मिथ्यादर्शन	मिथ्यात्व	असत्यरूप।
	अदर्शन	सत्यश्रद्धान से रहित।
मिथ्याज्ञान	अज्ञान	तत्त्वज्ञान का अभाव।
	कुज्ञान	अपना प्रयोजन नहीं साधता।
	अचारित्र	स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव।
मिथ्याचारित्र	असंयम / अविरति	परिणाम मिटते नहीं (विरक्त नहीं)।
	अव्रत	हिंसादि पाँच पाप में प्रवृत्ति (प्रमत्तयोग)।

(पृष्ठ-84, 88, 92)

प्रश्न 49- आत्मा में कौन-कौन सी अशुद्धपर्यायें होना सम्भव है, जिनसे बन्ध होता है?

उत्तर - विभावव्यंजनपर्याय, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र / अचारित्र, योग आदि आत्मा की अशुद्धपर्यायें हैं परन्तु इनमें से—

(1) जीव का आकार-प्रकार (विभाव व्यंजनपर्याय), किसी बन्ध में कारण नहीं; अतः दुःखरूप नहीं है।

(2) वास्तव में मिथ्याज्ञान भी, बन्ध का कारण नहीं है; अतः दुःख में भी कारणभूत नहीं है परन्तु मिथ्यादर्शन के साथ में होने से, मिथ्याज्ञान पर भी, संसार / बन्ध के कारणपने का आरोप आता है।

वास्तव में ज्ञान तो जानता है, उसमें मिथ्या-सम्यक् व्यवहार, विपरीत -यथार्थ श्रद्धान को लेकर है। ज्ञान तो जीव का स्वभाव है; निगोदिया का भी व्यक्त ज्ञान, स्वभाव का ही अंश है, जीवत्व का परिचायक है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-26 तथा पृष्ठ-88)

(3) मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र / अचारित्र ही बन्ध में, सच्चे कारण हैं।

(4) योग के कारण भी बन्ध होता है परन्तु केवलियों के योग होनेपर भी, अनन्त चतुष्टय होता है; अत: योग भी सही अर्थ में, दु:ख का कारण नहीं है परन्तु योग के कारण, बन्ध (ईर्यापथास्रव) तो होता ही है; अत: हेय है।

प्रश्न 50- पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, मोह की महिमा क्या है?

उत्तर - मोह के कारण, प्राप्त पर्यायरूप परिणमन, बिना सिखाये ही पाया जाता है; मनुष्य आदि को सत्यविचार के कारण मिलनेपर भी, सम्यक्परिणमन नहीं होता। शरीर-स्त्री-पुत्र-धनादि पदार्थ, प्रत्यक्ष भिन्न भासित होनेपर भी, भिन्न नहीं अनुभवता है; परलोक में जाना है—यह जानकर भी, परलोक सम्बन्धी प्रयत्न नहीं करता, इसलोक की सामग्री का ही प्रयत्न रहता है; कषायों को प्रत्यक्ष दु:खरूप जानकर भी, उन्हीं में प्रवृत्ति करता है, इत्यादि सर्व प्रकार से अन्यथा श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करता है—ये सब, मोह की महिमा है।

प्रश्न 51- इस अध्याय के अन्त में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने क्या शिक्षा दी है?

उत्तर - **हे भव्य! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहते हो, तो इन मिथ्यादर्शनादि विभावभावों का अभाव करना—यह ही कार्य है; इस कार्य को करने से, तेरा परम-कल्याण होगा!**

—oo—

पाँचवाँ अधिकार
अन्यमत निरूपण

॥ ॐ नमः ॥

बहुविधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निजभाव।
ताको होत अभाव है, सहजरूप दरसाव॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार के मङ्गलाचरण का आशय क्या है?

उत्तर - अनेक प्रकार के मिथ्याभावों को ग्रहण करने से, जीव का निजभाव मलिन हुआ है। सहज चैतन्यस्वरूप दिखाई देनेपर, उन मलिन भावों का अभाव हो जाता है।

इस अधिकार में निरूपित की जानेवाली अन्यमतसम्बन्धी मान्यताएँ, अपने में ही टटोलना चाहिए, क्योंकि मिथ्याभाव अनेकरूप धारण कर, जीवों में रहता है। इस प्रकार इस मङ्गलाचरण का आशय जानना।

प्रश्न 2- इस अध्याय की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर - लोक, अनादिनिधन है; लोक का कोई कर्ता नहीं; मुक्त (सिद्ध) होने के बाद, उनका अवतार नहीं होता; योगादि में जो मोक्षादि की मीमांसा है, वह कल्पित है; मुस्लिम मत, वेदान्तादि के समान है; सांख्य आदि अनेक अन्यमत हैं, इन अन्यमतों के तत्त्व, सिद्ध नहीं होने से, वे झूठे हैं; जैनों में भी श्वेताम्बर तथा ढूँढकमत, मिथ्याप्ररूपणा के कारण, अन्यमतों में गर्भित जानना; **जैनमत ही समीचीन तथा प्राचीन है।**

ये सब, पाँचवें अध्याय की विषयवस्तु है।

प्रश्न 3- मिथ्यात्व कितने प्रकार का है ?

उत्तर - मिथ्यात्व दो प्रकार का है—1. अगृहीतमिथ्यात्व, और 2. गृहीतमिथ्यात्व। इस अध्याय में गृहीतमिथ्यात्व का वर्णन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-95)

प्रश्न 4- अगृहीत और गृहीतमिथ्यात्व का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जो अनादि से पाया जाता है, ऐसे मिथ्यात्व को अगृहीतमिथ्यात्व कहते हैं; इसको पुष्ट करनेवाले मिथ्यात्व को, गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-95)

प्रश्न 5- सुदेव, देव, अदेव, कुदेव का वर्गीकरण कैसे करें ?

उत्तर - **सुदेव**—अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी; **देव**—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक; **अदेव**—हरि, हर, शीतलादि; पीपल, तुलसी, लकड़बाबा आदि कल्पित देव; **कुदेव**—इन सरागी देवादि और अदेवादि को सुदेव मानकर, पूज्य आदि माननेरूप विपरीत मान्यता।

जो कोई भी सरागी देव-देवी हैं, वे वन्दन-पूजन के योग्य नहीं हैं।

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म मीमांसा

प्रश्न 6- विश्व में सर्वव्यापी—ऐसा अद्वैत ब्रह्म क्यों नहीं है ?

उत्तर - प्रत्यक्ष में सभी पदार्थ, भिन्न-भिन्न हैं तथा भिन्न-भिन्न स्वभाव के धारक दिखाई देते हैं; इसलिए विश्व में सर्वव्यापी—ऐसा अद्वैत ब्रह्म, सिद्ध नहीं होता।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-96)

प्रश्न 7- एक ही ब्रह्म, सर्वव्यापक होकर, सृष्टि का कर्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर - पहले ब्रह्म एकरूप था, उसे अनेकरूप होने की इच्छा हुई; इच्छा, ब्रह्म को दुःखरूप सिद्ध करती है। दूसरा, यह तर्क कि ब्रह्म, चेतनरूप है, उससे शरीरादि अजीव, उत्पन्न हुए कैसे माने जाएँ ? इत्यादि अनेक तर्कों से, एक ही ब्रह्म, सर्वव्यापक होकर, सृष्टि का कर्ता सिद्ध नहीं होता। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-96)

प्रश्न 8- विष्णु, लोक का रक्षक क्यों नहीं है ?

उत्तर - किसी को भी न दु:खी होने दे, न मरने दे, तब तो रक्षकपना बनता है परन्तु प्रत्यक्ष में दु:खी तथा मरते दिखाई देते हैं; इसलिए विष्णु (या कोई अन्य), लोक का रक्षक, सिद्ध नहीं होता। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-102)

प्रश्न 9- महेश, संहारकर्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर - प्रथम तो वह, ब्रह्मा का विरोधी सिद्ध होता है। दूसरे, उसके द्वारा नाश का कारण तथा नाश की विधि, सिद्ध नहीं होती; इसलिए महेश, संहारकर्ता सिद्ध नहीं होता। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-105)

प्रश्न 10- लोक, अनादिनिधन है तो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं—ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर - 'इस लोक में, जो जीवादि पदार्थ हैं, वे न्यारे-न्यारे अनादिनिधन हैं तथा उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, उस अपेक्षा, (पदार्थ) उत्पन्न-विनष्ट होते कहे जाते हैं।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ-110)

प्रश्न 11- अवतारवाद क्यों सही नहीं है ?

उत्तर - अवतारों की विरुद्ध-स्वरूपता इत्यादि अनेक प्रकार से सिद्धान्तों का विचार करनेपर, विश्वपदार्थ व्यवस्था स्वत: सिद्ध होने से, अवतारवाद कोरी कल्पना ही है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-112)

प्रश्न 12- 'ज्ञानयोग' क्या है ?

उत्तर - अद्वैत, सर्वव्यापी परब्रह्म को जानना, ज्ञान है तदर्थ पवन आदि की साधना, योग है—ये दोनों मिलकर, ज्ञानयोग कहलाते हैं। वे, इस ज्ञानयोग को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-115, 117)

प्रश्न 13- 'भक्तियोग' से क्या आशय है ?

उत्तर - भक्ति से मुक्ति होती है; अत: भक्ति को मुक्ति का मार्ग मानना / कहना, यही भक्तियोग का आशय है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-119)

प्रश्न 14- मुस्लिममत तथा वेदान्तीमत में क्या समानता है ?

उत्तर - दोनों, सर्वव्यापी, एक, निरंजन, सर्व का कर्ता-हर्ता, कहते हैं; मात्र नाम का ही अन्तर है; मुस्लिम उसे खुदा कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार दोनों मतों में समानता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-123)

प्रश्न 15- अन्यमतों में मोक्षसम्बन्धी मान्यताएँ, क्या-क्या हैं ?

उत्तर - कोई बैकुण्ठधाम में ठाकुर-ठकुरानी की सेवा को मोक्ष कहते हैं; कोई ईश्वर के समान हो जाना, मोक्ष मानते हैं; कोई बैकुण्ठ की दीपक जैसी ज्योति में मिल जाने को, मोक्ष कहते हैं; कोई आत्मा मूलत: ब्रह्म ही है, उसके माया का आवरण मिटने को, मोक्ष कहते हैं; कोई बुद्धि आदि के नाश को, मोक्ष कहते हैं; कोई पुरुष और प्रकृति के भिन्न होने को, मोक्ष कहते हैं—इत्यादि मोक्षसम्बन्धी अनेक प्रकार की कल्पित मान्यताएँ हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-122)

प्रश्न 16- मत-मतान्तरों में, कौनसा मत कितने प्रमाण मानता है ?

उत्तर - जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण मीमांसा, निम्न तालिका से समझ सकते हैं—

दर्शन	प्रमाण-संख्या	प्रमाण-नाम
चार्वाक	1	प्रत्यक्ष।
वैशेषिक/बौद्ध	2	प्रत्यक्ष और अनुमान।
सांख्य	3	प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।
नैयायिक	4	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।
प्रभाकर मीमांसक	5	प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमान और अर्थापत्ति।
भट्ट मीमांसक	6	प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

प्रश्न 17- जैनदर्शन कितने प्रमाण मानता है ?

उत्तर - जैनदर्शन, परोक्ष और प्रत्यक्ष—ये दो प्रमाण मानता है। विस्तार से मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञानरूप पाँच प्रमाण मानता है। किसी विवक्षा से

मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगमरूप छह प्रमाण मानता है। इसी प्रकार और भी विवक्षाएँ सम्भव हैं।

प्रश्न 18– दार्शनिक विवक्षा में 'प्रमाण' का क्या अर्थ है?

उत्तर – जिसके द्वारा हमें पदार्थों का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। जैनेतर भाईयों ने, पदार्थ, प्रकाश, इन्द्रिय आदि साधनों को प्रमाण माना है अर्थात् वे पदार्थ आदि को, पदार्थ का ज्ञान होने में कारण मानते हैं।

जैनाचार्यों ने ज्ञान को ही प्रमाण माना है अर्थात् पदार्थ का ज्ञान, स्वयं ज्ञान से होता है।

प्रश्न 19– मत-मतान्तरों की दृष्टि में, कौन, कितने तत्त्व मानते हैं?

उत्तर –

दर्शन	तत्त्व संख्या
सांख्य	पुरुष आदि 25;
नैयायिक	प्रमाण आदि 16;
वैशेषिक	द्रव्य आदि 6;
बौद्ध	दुःख आदि 4 आर्यसत्य।

प्रश्न 20– जैनदर्शन कितने तत्त्व मानता है और क्यों?

उत्तर – जैनदर्शन, सात तत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष) मानता है, इनमें पुण्य-पाप मिलाने से, नव तत्त्व हो जाते हैं।

अन्यमत द्वारा वर्णित तत्त्व, सुखी होने में कार्यकारी नहीं हैं। उनका, तत्त्व-निरूपण, प्रयोजनभूत नहीं होने से तथा असंगत होने से, जैनदर्शन में तत्त्व को 'प्रयोजनभूत' – ऐसा विशेषण दिया जाता है। प्रयोजनभूततत्त्व अर्थात् वे तत्त्व, जिनको यथार्थरूप से जाननेपर, सुख होता ही होता है और नहीं जाननेपर, दुःख होता ही होता है।

प्रश्न 21- 'सांख्यमत का प्रकरण हमारे लिए कुछ कार्यकारी नहीं है तो फिर इसे पढ़ना निरर्थक ही है'-इस प्रश्न का क्या समाधान है?

उत्तर - कुछ भोले जीव, जैनधर्म को अपनाकर भी, अन्दर से सांख्यमती रहते हैं। इन्हें न्याय की भाषा में, प्रच्छन्नसांख्य कहते हैं; जो ऊपर से जैनी दिखते हैं परन्तु मान्यता में सांख्य ही रहते हैं।

पण्डितजी, सांख्यमत की मिथ्याकल्पनाओं के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'पुरुष (आत्मा) को प्रकृति, (रागादि कर्म) से भिन्न जानने का नाम, मोक्षमार्ग कहते हैं; वहाँ प्रथम तो, प्रकृति और पुरुष, कोई हैं ही नहीं तथा मात्र जानने ही से तो सिद्धि होती नहीं है; जानकर, रागादि मिटनेपर, सिद्धि होती है—ऐसे जाननेमात्र से, कुछ रागादि नहीं घटते। यदि प्रकृति का कर्तव्य माने, आप अकर्ता रहे तो किसलिए आप रागादि कम करेगा? **इसलिए 'यह मोक्षमार्ग नहीं है।'** (मो.मा.प्र., पृष्ठ-126)

आगे, निश्चयाभासी की भूलपर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि '**जो यह मानते हैं कि कर्म ही जीव का कर्ता है—उस जैनी को, समयसार में, सांख्यमती कहा है। जैसे—सांख्यमती, आत्मा को शुद्ध मानकर, स्वच्छन्द होता है; उसी प्रकार यह हुआ।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ-196)

आगे, पण्डितजी स्वयं लिखते हैं '**जो जीव, केवल निश्चयाभास के अवलम्बी हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना। जैसे—वेदान्ती व सांख्यमती जीव, केवल शुद्धात्मा के श्रद्धानी हैं; उसी प्रकार इन्हें भी जानना।**'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-209)

प्रश्न 22- जैनमत तथा अन्यमतों में क्या अन्तर है?

उत्तर - जैनमत में कथाएँ हों या लोक का निरूपण हो या आचरण हो या तत्त्व हों, जहाँ-तहाँ एकमात्र वीतरागभाव की ही पुष्टि की गयी है। कल्पित तथा कषायजन्य होने से, अन्यमतों में, सरागभाव के पोषण का ही प्रयोजन है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-137)

चारों अनुयोगों का सार, एकमात्र वीतरागता है।

(पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा 172 (दोनों टीकाएँ))

प्रश्न 23- क्या अन्यमतों के ग्रन्थों से, जैनमत की समीचीनता व प्राचीनता सिद्ध होती है?

उत्तर - हाँ, ऋग्वेदादि अन्यमतों के ग्रन्थों से, जैनमत की समीचीनता व प्राचीनता ही सिद्ध होती है। यथा—(1) 'वैशम्पायन सहस्र नाम' में भगवान का नाम, 'जिनेश्वर' कहा; जैनमत में 'जिनेश्वर', भगवान को कहा गया है। (2) दुर्वासा ऋषिकृत 'महिम्नि स्तोत्र' में ऐसा कहा है-'अरहन्त तुम हो'-ऐसे भगवन्त की स्तुति की; इसलिए अरहन्त के भगवन्तपना प्रकट हुआ। (3) यजुर्वेद में ऐसा कहा है—'ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय' आदि। यहाँ जैन तीर्थंकरों के नाम हैं, उनके पूजनादि कहे हैं तथा यहाँ यह भी भासित हुआ कि इनके बाद, वेद-रचना हुई है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-139, 141-142-143)

प्रश्न 24- श्वेताम्बरमत में कौन-कौन से दोष हैं?

उत्तर - श्वेताम्बरमत में, अनेक दोष हैं—जैसे-सूत्र बनानेवाला कोई है, उनको गणधर रचित बताते हैं; अन्यलिंगी को, गृहस्थ को, स्त्री को, चाण्डालादि शूद्रों को साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति होना मानते हैं; हुण्डावसर्पिणीकाल का नाम धरकर, प्रमाणविरुद्ध बातों को मानते हैं, जिन्हें वे अछेरा कहते हैं; देव-गुरु-धर्म का स्वरूप अन्यथा बताते हैं, इत्यादि अनेक दोषों के कारण, उसे कल्पितमत ही जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-145)

प्रश्न 25- क्या सम्यक्त्व होनेपर भी, जैनेतर भेष बना रह सकता है?

उत्तर - '**यदि कहोगे** - अन्तरंग में श्रद्धान होने से, उनके सम्यक्त्व होता है, सो विपरीत लिंगधारक की, प्रशंसादि करनेपर भी, सम्यक्त्व का अतिचार कहा है, तो **सच्चा श्रद्धान होने के पश्चात्, आप विपरीत लिंग का धारक, कैसे रहेगा?**' अर्थात् नहीं रहेगा। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 146)

प्रश्न 26- क्या वस्त्रधारी के ममत्व होता है?

उत्तर - कुलिंगियों के तो, श्रद्धान में ममत्व ही है। साधारण वस्त्रधारी के प्रवृत्ति में ममत्व होता ही है परन्तु श्रद्धान में ममत्व होना जरूरी नहीं। अविरतसम्यक्त्वी

तथा देशविरत के सवस्त्रपना होनेपर भी, श्रद्धान में ममत्व का अभाव रहता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 146)

प्रश्न 27– जैनधर्म, स्त्रीमुक्ति को स्वीकार नहीं करता – क्या यह नारी के प्रति, अन्याय नहीं है?

उत्तर – जैनधर्म में वस्तुस्वरूप का निरूपण है; यह कोई मानवकृत कानून व्यवस्था नहीं है, जिससे पक्षपात की आशंका हो। स्त्री स्वयं ही उत्कृष्ट पुरुषार्थ से रहित है; अत: वह पंचम गुणस्थान की ग्यारह प्रतिमा (आर्यिका पद) की प्राप्ति तो कर सकती है परन्तु मुनिधर्म ग्रहण नहीं कर सकती। जिनधर्म में, बिना मुनिधर्म ग्रहण किए, किसी भी दशा में मोक्ष होना सम्भव नहीं है।

आर्यिका को एकलविहारी होने का और बड़े अनुशासन–प्रायश्चित्त दण्ड का भी विधान नहीं है। अमरशब्दकोष में भी, नारी के पर्यायवाची शब्दों में, 'अबला' शब्द का समावेश है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 147)

प्रश्न 28– क्या शूद्र के मुनिदीक्षा सम्भव है?

उत्तर – धर्म (मोक्षमार्ग) का प्रारम्भ तो चारों गति के जीव कर सकते हैं। मनुष्य में कौनसी जाति / कुल / गोत्र में जन्मा है, उससे अन्तर नहीं पड़ता। आचार्य समन्तभद्र ने तो सम्यक्त्वसहित मातंग (चाण्डाल) को भी पूज्य (आदरणीय) कहा है। शूद्र (स्पृश्य अथवा अस्पृश्य), सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं। स्पृश्य शूद्र, अणुव्रत (देशचारित्र) तो ले सकता है, परन्तु **मुनिव्रत के पालन के योग्य, पुरुषार्थ करने में, वह असमर्थ है।**

'...चाण्डालादि को, गृहस्थ सम्मानादिपूर्वक दानादि कैसे देंगे? लोक विरुद्ध होता है। तथा नीचकुलवालों के, उत्तम परिणाम नहीं हो सकते; इसलिए नीचगोत्र का उदय तो पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही है, ऐसा दिगम्बर तथा श्वेताम्बर के शास्त्रों में उपलब्ध है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 147)

प्रश्न 29– क्या वर्णव्यवस्था, आगमसम्मत है? क्या इसका, मोक्षप्राप्ति पर प्रभाव पड़ता है?

उत्तर – सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किसी भी वर्ण / गोत्र के धारक जीव को सम्भव है; अत:

समन्तभद्राचार्य ने नीचगोत्र के धारक सम्यग्दृष्टि को भी, आदर की दृष्टि से देखा है। सर्वोदयी शासन में, किसी के प्रति घृणा करने की बात ही सम्भव नहीं है परन्तु शूद्र, मुनिदीक्षा के अयोग्य कहे गये हैं क्योंकि शूद्र, मुनिदीक्षा के योग्य (छठवें-सातवें गुणस्थान की प्राप्ति / तीन चौकड़ी कषाय के अभाव का) पुरुषार्थ करने में समर्थ नहीं हैं।

महापुराण - **39/158** में लिखा है कि जिसका कुल-गोत्र विशुद्ध है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा धारण कर सकता है।

आचार्य अमितगतिकृत योगसार, 8/51 में भी उल्लेख है कि शूद्र के अतिरिक्त, तीन वर्ण में उत्पन्न जीव ही, दीक्षा के अधिकारी हैं।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार —

'नीचगोत्र का उदय, पंचम गुणस्थानपर्यन्त ही है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 147)

उक्त सभी बातों का निष्कर्ष यह है कि शूद्र, क्षुल्लकदीक्षा तक अपना पुरुषार्थ कर सकता है; आगे नहीं।

प्रश्न 30- क्या केवली भगवान के भी, कवलाहार (आहार) होता है ?

उत्तर - जिनागम में छह प्रकार के आहार बताए गये हैं, वे इस प्रकार हैं—कवलाहार, मानसिकाहार, ओजसाहार, लेपाहार, कर्माहार तथा नोकर्माहार।

केवलियों के सयोग अवस्था में, कर्मों का तथा नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण होता है; अत: उनके, मात्र कर्माहार तथा नोकर्माहार होता है। केवलियों के मनुष्य-तिर्यंचवत्, कवलाहार नहीं होता है। केवली भगवान के, क्षुधापरिषह (उपचार से) तो है परन्तु क्षुधादोष का अभाव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 150)

प्रश्न 31- ढूँढकमत में कौन-कौन से दोष हैं ?

उत्तर - ढूँढकमत में भी अनेक दोष हैं। मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सर्व सावद्ययोग के त्याग की प्रतिज्ञा तो करते हैं परन्तु पालन नहीं करते-यह प्रतिज्ञाभंग का महादोष है। पुनश्च, वे तथा अन्य, उनको साधु मानते हैं-यह महादोष में और महादोष है। बालक, भोले, शूद्र आदि को दीक्षा देते हैं-इन्हें

विवेक व धर्मबुद्धि न होने से, दीक्षा लेने–देनेवाले दोनों पाप के भागीदार होते हैं। किंचित् त्याग कराके, देशव्रती श्रावक संज्ञा देते हैं तथा कुदेव–कुगुरु को नमन करनेवाले को भी, श्रावक कहते हैं। मुखपट्टी धारण में विवेक नहीं हैं। अहिंसा के (मिथ्या) एकान्त का ग्रहण करके, मूर्तिपूजा का निषेध करना, केवल '**मिच्छा मे दुक्कडं**' पाठमात्र से, पाप का नाश (प्रतिक्रमण) मानना; प्रतिज्ञा ग्रहण करने–कराने की मुख्यता करना, परन्तु उनको यथाविधि पालन की मुख्यता न करना, इत्यादि अनेक दोष हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ–158)

प्रश्न 32– क्या जिनधर्म छोड़कर, अन्य दर्शन पढ़ना–लिखना, मिथ्यात्व नहीं है?

उत्तर – अन्य दर्शन पढ़ने–लिखने के लिए, अपना सुन्दर जिनधर्म छोड़ने की आवश्यकता कहाँ है? सही मायने में जिनधर्म के ज्ञान और श्रद्धान को पुष्ट करने के लिए ही तो अन्यदर्शन में आया हुआ परस्परविरोध का ज्ञान, कार्यकारी है; इससे विशुद्धि बढ़ती है। जैनकुल में जन्म लेकर, पक्ष से, जिनधर्म को अच्छा कहने में विशेष लाभ नहीं है; परीक्षा करना जरूरी है।

अकलंकस्वामी ने बौद्धों के आश्रम में जाकर, उनके धर्म को जाना था। यह सब उन्होंने, मरने की कीमत पर किया था।

समन्तभद्राचार्य ने भी अन्यमत को पढ़कर, अन्यमतियों को, उनकी भूलों का ज्ञान कराया था। इससे प्रभावना भी बहुत हुई।

अन्यमत के श्रद्धान का निषेध है; पढ़ने का नहीं।

प्रश्न 33– अनुमान के प्रतिज्ञा आदि पाँच अंग कौन–कौन से हैं?

उत्तर – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय (हेतु को दोहराना) तथा निगमन (पक्ष/प्रतिज्ञा को दोहराना)—ये अनुमान के पाँच अंग हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 127 एवं जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 619)

प्रश्न 34– पण्डितजी ने इस अधिकार में अन्यमतों के जितने उद्धरण दिए हैं, क्या वे सभी उनके ग्रन्थों में उपलब्ध हैं?

उत्तर – पण्डितजी के बाद के अन्यमतों के जितने भी लिखे / छपे ग्रन्थ हैं, उनमें ये पद्य (उद्धरण), लगभग अप्राप्य हैं; कुछ ही प्राप्त हैं, वे भी फेरफारसहित हैं। हाँ,

पण्डितजी के (300 वर्ष) पूर्व तक के, अन्यमतों के जितने भी ग्रन्थ-पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हैं, उनमें ये उद्धरण प्राप्त होते हैं।

इसका रहस्य इतना ही है कि पण्डितजी की तार्किकता तथा विद्वत्ता का लोहा, समस्त विरोधियों ने भी माना था; अतः उन्होंने अपनी-अपनी कृतियों में, त्रुटिपूर्ण वचनों को ठीक कर लिया है।

प्रश्न 35- केवली भगवान को, जीवों का जन्म-मरण लोक में सर्वत्र भासित हो रहा है; अतः इन अन्तरायों के बीच वे आहार कैसे करेंगे ?—इस तर्क का क्या आशय है ?

उत्तर - श्वेताम्बरमत, केवलियों के आहार (कवलाहार) मानता है। उनका खण्डन करते हुए पण्डितजी ने अनेक तर्कों के बीच, एक सशक्त तर्क यह भी रखा है कि—केवलियों को तीन लोक में स्थित, सभी जीवों के, जन्म-मरण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं; अन्य अनेक विपत्तियाँ भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। जब साधारण गृहस्थ अथवा मुनिराज भी ऐसे दृश्यों को देखकर, आहार का विकल्प त्याग देते हैं तो फिर केवली भगवान, इस स्थिति में आहार कैसे कर सकेंगे।

इससे भी यही सिद्ध हुआ कि केवली भगवान के आहार (कवलाहार) नहीं होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 151)

प्रश्न 36- नव प्रकार के परिग्रह कौन से हैं क्योंकि अन्य ग्रन्थों में 10 प्रकार के बाह्य परिग्रहों का उल्लेख मिलता है ?

उत्तर - यहाँ नव प्रकार के परिग्रह से तात्पर्य, बहिरंग दस परिग्रह से ही है।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः

(तत्त्वार्थसूत्र, 7/29)

इसमें 1. क्षेत्र, 2. वास्तु, 3. चाँदी, 4. सोना, 5. धन, 6. धान्य, 7. दासी, 8. दास तथा 9. कुप्य (वस्त्र तथा बर्तन)—इस प्रकार 9 परिग्रहों का उल्लेख करके, कुप्य के अन्तर्गत, वस्त्र तथा बर्तन, दोनों को रखा गया है।

बाह्य परिग्रहों में दस भेद के उल्लेख के सन्दर्भ में, स्पष्टीकरण इस प्रकार

है—**वास्तव में बाह्य परिग्रह, दस ही बताए गए हैं क्योंकि 'कुप्य' में वस्त्र और बर्तन—ये दो भेद गर्भित हैं।** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 152)

प्रश्न 37- 'और सबके (गृहस्थों के) तो सर्वघाति का उदय है, इनके (मुनिराज के) देशघाति का उदय है'—इस वाक्य का क्या आशय है ?

उत्तर - मोहनीय की कुल 28 प्रकृतियाँ हैं। इनका सर्वघाति तथा देशघातिप्रकृति में निम्न तालिकानुसार विभाजन है—

मोहनीयकर्म	सर्वघातिप्रकृति	देशघातिप्रकृति
दर्शनमोहनीय (3)	मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व	सम्यक्प्रकृति
चारित्रमोहनीय (25)	अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्या-नावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।	संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ, नोकषाय।

पण्डितजी कहते हैं कि सबके (गृहस्थों के), कम से कम प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय है, फिर भूमिकानुसार किसी के, इसके साथ अप्रत्याख्यानावरण और अनन्तानुबन्धी भी पायी जाती है। मुनिराज के केवल संज्वलन तथा नोकषाय नामक देशघातिप्रकृति का उदय है। इससे गृहस्थों के तथा मुनिराजों के परिणामों में भारी अन्तर है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 153)

प्रश्न 38- देशव्रतगुणस्थान में, ग्यारह अविरति होना कहते हैं, वे कौनसी हैं ?

उत्तर - कुल, बारह प्रकार की अविरति हैं। छह प्रकार की इंद्रिय अविरति / असंयम (5 इन्द्रिय तथा मन के विषय में प्रवृत्ति) तथा छह प्रकार की प्राणी अविरति / असंयम (त्रस तथा पंचस्थावर की हिंसा में प्रवृत्ति)। चतुर्थ गुणस्थान, अविरति का गुणस्थान है; अतः यहाँ सभी बारह अविरति हैं। षष्ठ गुणस्थान, विरत / संयत का है; अतः यहाँ एक भी अविरति नहीं है।

पंचम गुणस्थान में, केवल त्रसहिंसा का त्याग है अर्थात् एक अविरति का त्याग है; बाकी पंचस्थावर की हिंसा और पंचेन्द्रिय तथा मन के विषय से

निवृत्त नहीं होने से, ग्यारह प्रकार की अविरति शेष हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 160)

प्रश्न 39- पण्डितजी ने मिथ्यात्व के अभाव की प्रेरणा तो सर्वत्र की है परन्तु अभक्ष्य-त्याग आदि का कोई उल्लेख क्यों नहीं किया ?

उत्तर - पण्डितजी की दृष्टि तथा लेखनी परिपूर्ण है। 'चारों अनुयोगों का समन्वय' पण्डितजी ही की देन है।

पण्डितजी, श्वेताम्बरमत का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—'**तथा धर्म के अंग अनेक हैं, उनमें एक परजीव की दया को मुख्य कहते हैं, उसका भी विवेक नहीं है। जल का छानना, अन्न का शोधना, सदोष वस्तु का भक्षण न करना, हिंसादिरूप व्यापार न करना, इत्यादि उसके अंगों की तो मुख्यता नहीं है।**'

उक्त कथन से पण्डितजी के अभक्ष्यत्याग आदि सम्बन्धी विचार, स्पष्टतः प्राप्त होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 161)

प्रश्न 40- अहिंसा के एकान्त से क्या आशय है ?

उत्तर - ढूँढकमतवाले श्वेताम्बर भाई, चैत्य-चैत्यालय के बनाने आदि में, हिंसा होगी —ऐसा मानकर, अहिंसा का दुराग्रह कर, चैत्य-चैत्यालय के बनाने आदि का निषेध करते हैं। उसमें हिंसा होती है, यह बात सत्य है। उससे पापबन्ध होता है, यह बात भी सत्य है परन्तु जिसका बड़ा पाप अभी छूटा नहीं है, उसके लिए तो बड़े पाप को छुड़ाने हेतु, इस छोटे पाप की स्वीकृति दी गयी है; इसे धर्म भी कहा है। अपनी भूमिका देखकर, पहले स्थूलहिंसा का त्याग करके, फिर सूक्ष्महिंसा का त्याग करना चाहिए—ऐसा अनेकान्त होना चाहिए।

पण्डितजी लिखते हैं—'**केवल अहिंसा ही धर्म का अंग नहीं है; रागादि का घटना, धर्म का मुख्य अंग है; इसलिए जिस प्रकार परिणामों में रागादि घटें, वह कार्य करना।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 166)

प्रश्न 41- क्या साधारण गृहस्थों को सामायिक, प्रोषधोपवास करनेयोग्य नहीं है ?

उत्तर - साधारण गृहस्थों को स्थूलतम पाप का त्याग करके, सामायिक, प्रोषधोपवासादि

का अभ्यास करना, अनुचित नहीं है; स्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु निरतिचाररूप से पालन करने की क्षमता हुए बिना, इन अनुष्ठानों में प्रतिज्ञाबद्ध होना सर्वथा अनुचित है।

प्रश्न 42– प्रोषध उपवास का कितना काल है?

उत्तर – जघन्य प्रोषध का काल, 24 घण्टे है; मध्यम का, 36 घण्टे तथा उत्कृष्ट का, 48 घण्टे। इससे फलित हुआ कि 24 घण्टे से कम काल का प्रोषधोपवास नहीं होता है अर्थात् कम से कम 24 घण्टे के लिए ऐसे व्रत का पालक जीव, समस्त आरम्भ, आहार, विषयकषाय का त्यागी होता है।

प्रश्न 43– इस अध्याय के अन्त में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने क्या शिक्षा दी है?

उत्तर – **'सच्चे जिनधर्म का स्वरूप' जानकर, उसके द्वारा मोक्षमार्ग में प्रवर्तना योग्य है; वहाँ प्रवर्तने से तुम्हारा कल्याण होगा!'**

—००—

छठा अधिकार
कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का निषेध

॥ ॐ नमः ॥

मिथ्या देवादिक भजें, हो है मिथ्याभाव।
तजि तिनकों साँचे भजौ, यह हित-हेतु-उपाव॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार के मङ्गलाचरण का क्या अर्थ है?

उत्तर - कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के सेवन से, मिथ्याभाव होते हैं; इसलिए उनको छोड़कर, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, धर्म को भजना / मानना चाहिए। यही स्वहित के लिए, सही उपाय है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-168)

प्रश्न 2- इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

उत्तर - कुदेव-कुगुरु-कुधर्म, पूजन-सेवन-आचरण के अयोग्य हैं। उनमें व्यन्तरादि, क्षेत्रपाल-पद्मावती, चन्द्र-सूर्य, देवी-दहाड़ी आदि पूजनेयोग्य नहीं हैं। कुल अपेक्षा गुरुपना, पट्टद्वारा गुरुपना, मिथ्याभेषियों में गुरुपना नहीं होता; इसलिए इनका सेवन, कुगुरु का सेवन है। जहाँ हिंसा उत्पन्न हो, विषयकषाय की वृद्धि हो, उसको धर्म जानकर, आचरण नहीं करें। कुपात्रदान, पञ्चाग्नितप, कन्दमूलभक्षण, योगक्रिया, अधर्मरूप हैं; इन्हें धर्मरूप जानकर, इनका आचरण न करें।

ये ही इस अधिकार की विषयवस्तु है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-168-192)

कुदेव का निरूपण

प्रश्न 3- अज्ञानी, कुदेवों को कितने प्रयोजनों से पूजते हैं?

उत्तर - अज्ञानी, 1. मोक्ष के, 2. इस लोक के, 3. परलोक के प्रयोजनों से, कुदेवों को पूजते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-168)

प्रश्न 4- व्यन्तरादि कौन हैं, उनके पूजने का निषेध क्यों किया?

उत्तर - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक—ये चार प्रकार के देवगति के देव हैं, ये सभी संसारी हैं। इनमें कितने ही व्यन्तरादि किसी का भला-बुरा करने में समर्थ नहीं हैं। जो समर्थ हैं, वे जीव के पुण्य का उदय हो तो सुख में तथा पाप का उदय हो तो दुःख में निमित्तमात्र होते हैं। जीव के पुण्य का उदय या पाप का उदय न हो तो सुख-दुःख में निमित्त नहीं होते। वे असंयमी होते हैं; इसलिए उनके पूजने का निषेध किया है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-169-172)

प्रश्न 5- अतिशय-चमत्कार, जो जिनप्रतिमाओं के या अन्य कल्पित प्रतिमाओं के देखे जाते हैं, वे किस प्रकार हैं?

उत्तर - जो, जिनप्रतिमाओं या अन्य कल्पित प्रतिमाओं के अतिशय-चमत्कार देखे जाते हैं, वे व्यन्तरकृत होते हैं; जिनकृत नहीं होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ-170)

प्रश्न 6- 'सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह, पूजन-दानादि से शान्त होते हैं' क्या यह मान्यता सही है?

उत्तर - सूर्य, चन्द्र आदि, ज्योतिषीदेवों के विमान हैं। ढाई द्वीप (मनुष्यलोक) में जितने भी ज्योतिषीदेवों के विमान हैं, वे सब मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। ज्योतिषीदेवों के ये विमान, एक चन्द्र का परिवार कहलाते हैं। एक चन्द्र -परिवार में, एक चन्द्र (इन्द्र) है, एक सूर्य (प्रतीन्द्र) है, अट्ठाईस नक्षत्र हैं, अठासी ग्रह होते हैं तथा 66,975 कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं। इनकी संख्या निश्चित है। इनकी स्थिति (पृथ्वी से 790 योजन से, 900 योजन ऊँचाई पर) निश्चित है, सबकी गति निश्चित है।

जम्बूद्वीप में, दो चन्द्र-परिवार हैं। ढाई द्वीप में, एक सौ बत्तीस (132)

चन्द्र-परिवार हैं। ढाई द्वीप के बाहर, लोक के अन्त तक असंख्यात चन्द्र -परिवार हैं, उनके विमान, एक स्थान पर स्थिर हैं। ढाई द्वीप के विमानों की गतियाँ, भिन्न-भिन्न होने से, ग्रहण होते हैं। एक विमान के कारण, अन्य विमान का न दिखना, ग्रहण है।

जैसे—लोक में हिरण की गति आदि, आगामी शुभाशुभ के ज्ञान में निमित्त होती है; वैसे ही इन विमानों की गति आदि, आगामी शुभाशुभ के ज्ञान में निमित्त होती हैं; ये स्वयं, किसी का शुभाशुभ नहीं करते; इसलिए सूर्य-चन्द्रादि के पूजन-दानादि से, ये शान्त होते हैं—यह मान्यता ही खोटी है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ-173)

प्रश्न 7- ग्रहपूजा के सम्बन्ध में पण्डितजी का क्या अभिमत है?

उत्तर - पण्डितजी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मंगलस्वरूप वीतराग-विज्ञान में स्थित जीवों को नमस्कार करके, राग-द्वेष को घटानेरूप हमारे प्रयोजन की पुष्टि की है।

जिनागम में चार अनुयोगों में ज्योतिषविद्या का भी समावेश है। आचार्यगण, इसके ज्ञानी भी होते हैं। ऐसा होते हुए भी ग्रह, हमारे सुख-दुःख के सूचक (ज्ञापक) कारणमात्र हैं; उत्पादक कारण नहीं। होनहार होकर रहती है। हमारे सुख-दुःख में बलवान कारण, हमारे कर्म का उदय ही है।

सीता की कुण्डली वशिष्ठ आदि सैकड़ों विशेषज्ञों ने मिलाई थी फिर भी उस पर वनवास की आपत्ति आ ही पड़ी। पुराणों में भी कर्म के बल को सिद्ध करके, शुभग्रहों की अकार्यकारिता सिद्ध की है। यथा —

कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहः।
वशिष्टदत्तलग्नश्च रामः किं भ्रमते वनम्॥

इसीलिए पण्डितजी ने सूर्य आदि को पूजने आदि के भाव को, मिथ्याभाव कहा है।

प्रश्न 8- क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि जो जिनमत को मानते हैं, जिनमें जिनभक्ति पायी जाती है, इनके पूजनादि में क्या दोष है?

उत्तर - जिनमत को माननेवाले, जिनेन्द्र की भक्ति करनेवाले, असंख्यात देव हैं, उनमें

सर्वार्थसिद्धि विमान के, ब्रह्मलोक के, सौधर्मस्वर्गादि के इन्द्रादि, विशेष हैं। जिनमत को मानने से, जिनेन्द्र की भक्ति करने से या सम्यग्दर्शनादि से, देवादि पूजनीय न तो होते हैं, न माने जाते हैं। जिनमत में संयम होनेपर ही, पूजनीय होते हैं, पूजनीय माने जाते हैं। क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि सभी देवगति के देव, नियम से असंयमी ही होते हैं; इसलिए वे पूजनीय नहीं हैं। जैसे-द्वारपाल, राजा से मिलाता है; वैसे ये जिनेन्द्र से मिलाते हैं—यह मान्यता भी झूठी है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 173-175)

प्रश्न 9- क्षेत्रपाल कौन हैं?

उत्तर - क्षेत्रपाल, भवनत्रिक देवगति के एक साधारण देव हैं। अन्य असंख्य देवों के समान, ये भी समवसरण में भगवान की भक्ति के लिए आते हैं परन्तु इनके पास किसी भी प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा होनेपर भी अज्ञानी, समवसरण में प्रवेश होना, क्षेत्रपाल के आधीन मानता है।

पण्डितजी लिखते हैं—'**क्षेत्रपालादि भी पूजनेयोग्य नहीं हैं।**'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 174)

पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं—'**इस प्रकार विवेकरहित मिथ्यादृष्टि लोग, क्षेत्रपाल का अत्यन्त विपरीतरूप बनाकर, वीतराग के मन्दिर में स्थापना करते हैं-लोगों को बहकाकर, क्षेत्रपाल को पुजवाते हैं और इनका दर्शन-पूजन, जिनेन्द्र भगवान से भी पहले करते हैं। सो यह सब, मिथ्यादर्शन और कुज्ञान का ही प्रभाव जानना।**' (रत्नकरण्डश्रावकाचार, पृष्ठ 47)

प्रश्न 10- यक्ष-यक्षिणी कौन हैं?

उत्तर - प्रत्येक तीर्थंकर के एक-एक यक्ष और एक-एक यक्षिणी कही गयी हैं। इन्हीं को शासन देव-देवी भी कहा जाता है। ये व्यन्तर जाति के अन्तर्गत आते हैं। निम्न कारणों से पण्डितजी ने '**क्षेत्रपालादि (यक्ष-यक्षिणी) को पूजनेयोग्य नहीं हैं**' - यह चेतावनी दी है —

1. इन्हें शासनदेवता की संज्ञा नहीं मिली और इसका कोई उल्लेख जिनवाणी में उपलब्ध नहीं है।

2. इनके कोई कार्यविशेष का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता है।
3. कुछ ग्रन्थों में इनके नाम का उल्लेख मिलता भी है, लेकिन वह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता है।
4. अन्यमत में काली आदि देवियों की मान्यता की तरह, लोगों में अनावश्यक भ्रम उत्पन्न करने के लिए, इनको प्रसिद्ध किया, मालूम पड़ता है।
5. श्रीमद् सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थ में, इनको कल्पित बताया है।

प्रश्न 11- क्या देवी पद्मावती पूज्य है?

उत्तर - पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने, देवी पद्मावती को निम्न कारणों से अपूज्य कहा है—

1. लोक में यह मान्यता है कि पार्श्वकुमार ने जिस नाग-नागिन के युगल को सम्बोधन दिया था, वह युगल मरकर, धरणेन्द्र-पद्मावती बने थे परन्तु उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में, धरणेन्द्र की, देवी पद्मावती के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। उत्तरपुराणकार ने धरणेन्द्र की देवियों के नाम, दिति-अदिति लिखे हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।
2. भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष और यक्षणी, धरणेन्द्र और पद्मावती थे ही नहीं।
3. यक्ष-यक्षिणी का कार्य, रक्षक के रूप में भी कहीं नहीं आया है।
4. रक्षक होनेमात्र से कोई पूज्य नहीं होता है।
5. संयमी ही पूज्य है और महिलाएँ, सकलसंयम के लिए असमर्थ हैं।
6. मुनि पार्श्वनाथ पर आए हुए उपसर्ग का निवारण करने के लिए आये हुए दो जीव, धरणेन्द्र और उसकी देवी (पद्मावती नहीं), ऐसा उत्तरपुराण में उल्लेख है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 173-174)

प्रश्न 12- क्या सम्यक्त्वी की पूजा की जा सकती है?

उत्तर - **'अस्संजदं ण वंदे'**–ऐसा दर्शनपाहुड़ की गाथा में उल्लेख है। पूजन तो देव, शास्त्र अथवा गुरु की ही की जाती है; इस अपेक्षा से, अविरत सम्यक्त्वी, अष्ट द्रव्य से पूज्य नहीं होता। (द.पा., गाथा 26)

पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं—**'यदि सम्यक्त्व से ही पूजते हैं तो सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिकदेव, उन्हें ही क्यों न पूजें?'** जहाँपर भी,

अव्रती सम्यक्त्वी के पूज्यपने की बात आई है, वहाँ उसका आशय, उसका 'आदर करना' समझना चाहिए। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 173)

कुगुरु का निरूपण

प्रश्न 13- पट्ट परम्परा से किसी को गुरु मानने-पूजने में क्या दोष है?

उत्तर - जिनधर्म में पूजने का—गुरु आदि मानने का आधार, एकमात्र संयम ही है। जहाँ संयम नहीं, वहाँ पूज्यत्व नहीं है। किसी परम्परा या बाह्य भेषमात्र में संयम का अभाव हो तो उस परम्परा का कोई भी व्यक्ति, परम्परा या भेषमात्र से पूजनीय नहीं होता है। ऐसे को पूजने से पापसंचय ही होता है, यह एक बड़ा दोष है। यथार्थ श्रद्धान से वंचित रहता है—यह दूसरा दोष है। असंयमी को पूजने-नमस्कारादि में, दोष ही दोष हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 177-179)

प्रश्न 14- 'हम कुगुरु को सच्चे गुरु के रूप में तो नहीं मानते, मात्र नमन करते हैं, उसमें क्या दोष है?'

उत्तर - षट्पाहुड़ में लज्जादि के कारण, वन्दनादि करने का निषेध बतलाया है, वह पहले ही कहा था। कोई जबरदस्ती मस्तक झुकवाकर, हाथ जुड़वाए, तब तो यह सम्भव है कि हमारा अन्तरंग नहीं था परन्तु आप ही मानादि से नमनादि करे, वहाँ अन्तरंग कैसे न कहें? (मो.मा.प्र., पृष्ठ-187)

समन्तभद्राचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

भयाशा-स्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥30॥

अर्थ - जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, वे भय से-आशा से-स्नेह से-लोभ से, कुदेव, कुआगम और कुलिंगधारी को प्रणाम नहीं करते हैं, विनय नहीं करते हैं।

प्रश्न 15- यदि किसी को गुरु नहीं मानेंगे, तो निगुरा नहीं कहलायेंगे क्या?

उत्तर - निगुरा तो उसका नाम है, जो गुरु मानता ही नहीं। वहाँ जो गुरु को तो

माने, परन्तु इस क्षेत्र में गुरु का लक्षण न देखकर, किसी को गुरु न माने तो इस श्रद्धान से तो निगुरा होता नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ–184)

प्रश्न 16– गुरुसंज्ञा किन-किन की है?

उत्तर – लोक अपेक्षा से, जितने भी अपने से बड़े हों, उन सबकी गुरुसंज्ञा है। कुल अपेक्षा से, माता–पिता की गुरुसंज्ञा है; विद्या पढ़ानेवाले की विद्या की अपेक्षा से, गुरुसंज्ञा है। धर्मक्षेत्र में चारित्र के धारक की गुरुसंज्ञा है; इसलिए देव–शास्त्र–गुरु में, निर्ग्रन्थ की ही गुरुसंज्ञा है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ–187)

प्रश्न 17– वर्तमान क्षेत्र में, सिद्धान्त के अनुसार, गुरु न दिखें; कोई बाह्य भेषधारी दिखें तो जैसे प्रतिमा में जिनेन्द्र की स्थापना करते हैं; वैसे बाह्य भेषधारी में, गुरु की स्थापना कर मानने में क्या दोष है?

उत्तर – स्थापना 'यथा–तथा' सिद्धान्तवाली तथा प्रतिपक्षरहित होती है। जैसा राजा, वैसा चित्र हो तो चित्र में, राजा की स्थापना होती है। जैसे–जिनेन्द्र भगवान, वैसी प्रतिमा हो तो प्रतिमा में, जिनेन्द्र की स्थापना होती है। जैसे–यथार्थ मुनि, वैसे ये न हों तो स्थापना क्यों करें? वे अन्तर्बाह्य परिग्रहरहित, ये अन्तर्बाह्य परिग्रहसहित, स्थापना कैसे करें?

यदि कोई सामान्य मनुष्य, अपने को राजा माने तो वह राजा का प्रतिपक्षी हुआ; वैसे कोई सामान्य मनुष्य, अपने को मुनि मानता है तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ। वर्तमान में जिनेन्द्र का प्रत्यक्ष अभाव कहा, सो स्थापना की; परन्तु वर्तमान में मुनि का अभाव नहीं कहा, जिससे तुम स्थापना करते हो; इसलिए ऐसी स्थापना जिससे तुम कहते हो, वह उचित नहीं, सही नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ–186)

प्रश्न 18– बाह्यवेषधारी मुनि, हमसे तो अच्छे हैं; इसलिए उन्हें मानने में क्या दोष है?

उत्तर – जैसे–उपवास का नाम रखाकर, कणमात्र भी भक्षण करे तो पापी है और एकंत (एकाशन) का नाम रखाकर, किंचित् कम भोजन करे, तब भी धर्मात्मा है; वैसे उच्चपदवी का नाम रखाकर, उसमें किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है और नीची पदवी का नाम रखाकर, किंचित् भी धर्मसाधन करे तो धर्मात्मा

है; इसलिए धर्मसाधन तो जितना बने, उतना ही करना; कुछ दोष नहीं है परन्तु ऊँचा धर्मात्मा नाम धराकर, नीची क्रिया करने से तो महापाप ही होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 178-179)

प्रश्न 19- क्या मुनिराज के लिए, नगर अथवा लोकसम्पर्क में रहनायोग्य है ?

उत्तर - (1) गुणभद्राचार्यकृत-आत्मानुशासन का 197वाँ श्लोक उद्धृत करते हुए, पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है—'**कलिकाल में तपस्वी, मृग की भाँति इधर-उधर से भयभीत होकर, वन से, नगर के समीप वास करते हैं, यह महाखेदकारी कार्य है। यहाँ नगर के समीप ही रहने का निषेध किया, तो नगर में रहना तो निषिद्ध हुआ ही।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 183)

(2) मोक्षमार्गप्रकाशक में आचार्य, उपाध्याय तथा साधु के सामान्यस्वरूप में, मुनिराजों के लिए, '**वनखंडादि में वास करते हैं**', लिखा है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 3)

(3) आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने, साधु को '**वनवासी**' कहा है (नियमसार, गाथा 124)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चातुर्मास व विहार की स्थिति जैसी विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, उक्त कथन हैं।

प्रश्न 20- मुनिचर्या प्ररूपक अनेक ग्रन्थों में, मुनिराजों को ग्राम-नगर में चातुर्मास अथवा विहार के समय ठहरने का वर्णन आता है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर - चरणानुयोग के मूलग्रन्थों में, वन तथा विविक्त वसतिकाओं में श्रमण साधुओं के ठहरने का वर्णन मिलता है। यथा—

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खो णिसेवेऊ॥

मूलाचार, 10, 59 (952)

अर्थ - जो स्थान, वैराग्यवर्धक होते हैं, उन पर्वत की गुफाओं में, श्मशान-भूमि में, खण्डहर स्थान में, वृक्ष के नीचे, श्रमण ठहरते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा॥ बोधपाहुड़, गाथा 42

अर्थात् सूना घर, वृक्षमूल, उद्यान वन, श्मशानभूमि, पर्वत-गुफा, पर्वत-शिखर, भयानक वन तथा वसतिका एवं तीर्थक्षेत्र पर, साधु, वास करते हैं।

'भगवती आराधना' में जो '**गामेयरादिणयरे**' उद्धरण दिया गया है, वह साधु के विहार से सम्बन्धित है, जिसमें एक स्थान में ठहरने की अवधि बतलाई गयी है। (भ. आ., गाथा 638)

इसी अभिप्राय को, पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने '**वनखण्डादि**' कहकर, उसमें गर्भित कर लिया है; निषेध नहीं किया है।

'वसतिका' के सम्बन्ध में भी यही उल्लेख है कि ऐसे सूने घर में वसना चाहिए, जो साधु के उद्देश्य से न बनाये गए हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ किया गया हो। प्राकृतिक पर्वत-गुफा, वृक्ष का कोटर, सूना घर, साधु के वसने के लिए, उपयुक्त स्थान हैं। (तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय 9, सूत्र 6)

प्रश्न 21- 'श्रावक' तथा 'मुनि' संज्ञा के धारक, कौन जीव होते हैं ?

उत्तर - श्रावक संज्ञा, प्रथम गुणस्थानवर्ती (मिथ्यादृष्टि) गृहस्थ से लेकर, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती (अव्रती सम्यक्त्वी जीव) तथा पंचम गुणस्थानवर्ती ग्यारहवीं प्रतिमा तक के धारक, क्षुल्लक / क्षुल्लिका तथा ऐलक / आर्यिका को भी दी जाती है।

मुनि संज्ञा तो अनेक गुणस्थानवर्ती जीवों के सम्भव है। यह उल्लेखनीय है कि मुनिराज किसी भी गुणस्थान में हों, वे सभी 28 मूलगुण का निरतिचाररूप से पालन करते ही हैं। इसमें हीनाधिकता सम्भव नहीं है।

प्रश्न 22- हम आहार देने का अपना काम करें, पात्र-अपात्र की परीक्षा क्यों करें ?'

उत्तर - '**अब, अधिक क्या कहें!** जिनमत में कुवेष धारण करते हैं, वे महापाप करते हैं; अन्य जीव जो उनकी सुश्रुषा आदि करते हैं, वे भी पापी होते हैं।

पद्मपुराण में यह कथा है – श्रेष्ठी धर्मात्मा ने, चारणऋद्धिधारी मुनियों को भ्रम से भ्रष्ट जानकर, आहार नहीं दिया; तब जो प्रत्यक्ष भ्रष्ट हैं, उन्हें दानादि देना, कैसे सम्भव है ?'

आचार्य विद्यानन्द एवं समन्तभद्रस्वामी ने तो बिना परीक्षा, अरहन्तभगवान को भी स्वीकार नहीं किया। उनके रचित ग्रन्थों के तो नाम ही 'आप्तपरीक्षा', 'आप्तमीमांसा'—इस प्रकार के हैं और उनमें वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान की गहराई से परीक्षा की गयी है।

परीक्षा करना तो श्रावक का प्रथम कर्तव्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 186)

प्रश्न 23- जब हम भिखारी को बिना परीक्षा दान देते हैं, तो मुनियों की परीक्षा क्यों करना?

उत्तर - भिखारी की भी यथासम्भव परीक्षा करते ही हैं। दूसरे, भिखारी को दान देना, कोई धर्म का अंग नहीं है; अतः वह करुणादान संज्ञा पाता है; आहारदानादि नहीं। भिखारियों की पड़गाहन आदि भक्ति भी सम्भव नहीं है। मुनि तो पूज्य तथा लोकोत्तर पद है; लौकिक नहीं। मुनि की यथार्थता / गरिमा देखकर, उनके प्रति पड़गाहनादि भक्ति और तत्पश्चात् आहार देना सम्भव है।

कुधर्म का निरूपण

प्रश्न 24- कुधर्म के आचरण के समान, क्या कुधर्म का श्रद्धान भी, पाप है?

उत्तर - हाँ, कुधर्म का श्रद्धान भी, पाप ही है क्योंकि शास्त्रों में कृत-कारित-अनुमोदना का फल, समान कहा है। शक्तिप्रमाण यथार्थ आचरण करना चाहिए, जो शक्ति से बाहर हो, उसका श्रद्धान करे। कुधर्म को धर्म मानकर, श्रद्धान करे तो यथार्थ से भी गए, धर्म से भी चूक गए।

प्रश्न 25- कुधर्म, कौन-कौन से हैं?

उत्तर - तीर्थादि में स्नान; संक्रान्ति-ग्रहणादि में दान; अन्नत्याग कर कन्दमूलादि खाकर, व्रत करना; भक्ति आदि में अनर्गल नृत्य-गान; मन्दिरादि में भोजन का आयोजन; पंचाग्नि तप तपना; आत्महत्या कर, धर्म मानना; धर्मपर्व में व्रतादि का नाम धरकर, श्रृंगारादि करना; पूजा-प्रभावनादि के कार्यों में, दीपक-पुष्पादि का प्रयोग करना; जिनमन्दिर, जो धर्म का स्थान है, वहाँ विकथा करना; सोना

इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तना; लोभी को गुरु मानकर, दानादि देना, इत्यादि सभी कार्य, जिनमें हिंसादि पाप उत्पन्न हो व विषयकषाय की वृद्धि तथा पोषण हो, कुधर्म जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 188-190)

प्रश्न 26- पण्डितजी ने जिनमन्दिर की महिमा कैसे प्रकट की है?

उत्तर - पण्डितजी लिखते हैं—'**जिनमन्दिर तो धर्म का ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बनाकर, विषयकषाय का पोषण करते हैं।**' यह कहकर, अनर्गल प्रवृत्ति करनेवालों के प्रति पण्डितजी खेद व्यक्त करते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 190)

प्रश्न 27- अष्टमी, चौदस, दशलक्षणी तथा अष्टाह्निका आदि पर्वों को कैसे व्यतीत करना चाहिए?

उत्तर - पर्वों में हमें कैसे रहना चाहिए तथा किसका त्याग करना चाहिए, इस सन्दर्भ में पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने कहा है—

'**देखो, काल का दोष, जैनधर्म में भी, कुधर्म की प्रवृत्ति हो गयी है। जैनमत में जो धर्मपर्व कहे हैं, वहाँ तो विषयकषाय छोड़कर, संयमरूप प्रवर्तना योग्य है। उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादि का नाम धारण करके, वहाँ नाना शृंगार बनाते हैं, इष्ट भोजनादि करते हैं, कुतूहलादि करते हैं व कषाय बढ़ाने के कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महा पापरूप प्रवर्तते हैं।**'

पण्डितजी, आगे भी लिखते हैं—'**किसी धर्मपर्व में तो बहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्व में बारम्बार भोजनादि करते हैं। यदि धर्मबुद्धि हो तो सर्व धर्मपर्वों में, यथायोग्य संयमादि धारण करें।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 190 एवं 240)

प्रश्न 28- क्या सल्लेखना, आत्महत्या नहीं है?

उत्तर - 'तथा कितने ही, इस लोक में दुःख सहा नहीं जाता है अथवा परलोक में इष्ट की इच्छा है अथवा अपनी पूजा कराने के लिए अथवा किसी क्रोधादि से अपघात (आत्महत्या) करते हैं। जैसे-पतिवियोग से अग्नि में जलकर, सती कहलाती है अथवा हिमालय में गलते हैं, काशी में करौंत लेते हैं, जीवित ही मिट्टी में प्रवेश कर जाते हैं, इत्यादि कार्यों को करके, धर्म मानते हैं परन्तु अपघात

का तो बड़ा पाप है। यदि शरीरादि से अनुराग घटा था, तो तपश्चरणादि करना था; मर जाने में धर्म का कौनसा अंग हुआ? इसलिए अपघात करना कुधर्म है।'

तपश्चरण का अर्थ, इच्छाओं का दमन है, यही निश्चय सल्लेखना है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 190)

प्रश्न 29– कुधर्म के त्याग को जिनधर्म में इतनी प्रमुखता से क्यों कहा गया है?

उत्तर – कुधर्म से मिथ्यात्व का विशेष पोषण होता है, जो सात व्यसनों से बड़ा पाप है; इसलिए कुधर्म का त्याग, प्रमुखता से कराया है।

'तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो एक यह है कि रागादि को छोड़ना – इसी भाव का नाम, धर्म है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ–191)

प्रश्न 30– 'मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादि और हिंसादि पाँच पापों से बड़ा, क्यों कहा है?

उत्तर – यहाँ मिथ्यात्व का आशय, **गृहीतमिथ्यात्व** से है; अगृहीतमिथ्यात्व से नहीं।

'जिनधर्म में यही आम्नाय है—**पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; अतः इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप जानकर, पहले छुड़ाया है।'** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 192)

'जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह यही हिंसादि पापों से बड़ा पाप है; इसके फल में निगोद-नरकादि पर्यायें प्राप्त करते हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा-संकट प्राप्त करते हैं और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, महा-दुर्लभ हो जाती है।'

अतः हे भव्यों! किंचित्‌मात्र लोभ से अथवा भय से, कुदेवादि का सेवन करके, जिससे अनन्त कालपर्यन्त महादुःख सहना होता है—ऐसा मिथ्यात्वभाव करना, योग्य नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 191)

प्रश्न 31– पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, इस अध्यायसम्बन्धी अन्तिम शिक्षा क्या है?

उत्तर – **'अहो! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है; इनमें शिथिलता रखने से, अन्य धर्म किस प्रकार हो सकता है? इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।'** (मो.मा.प्र., पृष्ठ–192)

—००—

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टियों का विवेचन

॥ ॐ नमः ॥

इस भवतरु को मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार के मङ्गलाचरण का क्या अर्थ है?

उत्तर - इस, अनादि-संसाररूपी सतत् वृक्ष के हरे-भरे रहने का एकमात्र कारण, हमारा चला आ रहा मिथ्याभाव है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्या-आचरण है। इन मिथ्या भावों को, पिछले दो अध्यायों (5वाँ-6वाँ) में, आचार्यकल्प टोडरमलजी ने विस्तार से निरूपण करके, अब, जैन होनेपर भी, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माननेपर भी, जो सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाता है, उसका स्वरूप इस अधिकार (7वें) में, विस्तार से निरूपित किया है।

पण्डित टोडरमलजी इस मङ्गलाचरण के माध्यम से प्रेरणा दे रहे हैं कि, मिथ्यात्व (गृहीत-अगृहीत) का निरूपण करनेवाले, इन तीनों अध्यायों का सम्यक् स्वाध्याय करके, अब, अनादि से इस मिथ्याभाव का निर्मूलकर -नाशकर, मिथ्याभाव का अभाव करना ही, एकमात्र सुख का-मोक्ष का उपाय है।

प्रश्न 2- मिथ्यात्व का अंश या सूक्ष्म मिथ्यात्व, किसे कहते हैं?

उत्तर - मिथ्यात्व तो वास्तव में मिथ्यात्व ही होता है, उसमें कोई अंश, अंशी या सूक्ष्म, स्थूल का भेद नहीं है। वह तो आत्मा के श्रद्धा आदि गुणों की, एक अखण्ड,

विपरीत तत्त्व-अश्रद्धान आदिरूप या विपरीत—अभिनिवेश आदिरूप पर्याय है परन्तु समझने-समझाने की अपेक्षा, उसमें अंश, स्थूल, सूक्ष्म आदि भेद बन जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

आत्मा में मिथ्यात्वपरिणाम होनेपर, सहज बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण, उसकी शारीरिक प्रवृत्तियों एवं वचन आदि से, जिस मिथ्यात्व का अनुमान हो जाता है, उसे अति-स्थूल या तीव्रतम मिथ्यात्व कह देते हैं; जैसे-पीर, पैगम्बर, तुलजा, भवानी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि को देव मानकर, पूजता हुआ देखकर, उस जीव को मिथ्यादृष्टि कह देना, आदि।

कोई मिथ्यात्वपरिणाम ऐसा होता है, जो अन्य देवी-देवताओं को पूजने आदिरूप में तो व्यक्त नहीं होता है, पर उसके साथ चर्चा-वार्ता करनेपर, तत्त्वसम्बन्धी विपरीतता के रूप में, व्यक्त हो जाता है, वह स्थूल या तीव्र मिथ्यात्व कहलाता है।

कोई मिथ्यात्वपरिणाम ऐसा होता है, जो कुदेवों को पूजने आदि के रूप में तो व्यक्त होता ही नहीं है; उस परिणाम का धारक जीव, जिनवाणी का गहन अभ्यासी होने के कारण, जिनवाणी के अनुसार ही चर्चा-वार्ता करता होने से, वचनात्मक तत्त्व-विपरीतता के रूप में भी व्यक्त नहीं होता है परन्तु अन्तरंग अभिप्राय में विद्यमान रहता है।

तीव्रतम अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा ही जिसे पहिचाना जा सकता है, उसे सूक्ष्ममिथ्यात्व या मिथ्यात्व बैरी का अंश, कहते हैं।

जब तक यह पूर्णतया नष्ट नहीं होता, तब तक पूर्वोक्त दो प्रकार का परिवर्तन भी स्थाई नहीं रह पाता है; अतः अन्तरोन्मुखी, पक्षातिक्रान्त, अन्तरंगवृत्तिमय तीव्र पुरुषार्थपूर्वक, भेदविज्ञान द्वारा, इसे पहिचानकर, नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 193)

प्रश्न 3- संक्षेप में सूक्ष्म-मिथ्यात्व क्या है ?

उत्तर - जहाँ निम्न अथवा निम्न में से कोई एक भी विपरीतता अन्तरंग में होनेपर, उसे सूक्ष्म मिथ्यात्व कहा जाता है—

1. प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में विपरीतता।
2. निश्चय–व्यवहार में विपरीतता।
3. चारों अनुयोगों की कथन पद्धति का पता न होना।

प्रश्न 4– सातवें अधिकार में कौन से मिथ्यात्व की चर्चा की गयी है?

उत्तर – सातवें अधिकार में भी मुख्यरूप से, गृहीतमिथ्यात्व की चर्चा की गयी है। गृहीतमिथ्यात्व, वह मिथ्यात्व है, जो वर्तमान में कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र द्वारा अन्य के उपदेश से, नया ग्रहण किया गया है; पूर्व से नहीं चला आ रहा है।

देह में एकत्वबुद्धि के समान, उनकी यह मान्यता, अनादिकालीन नहीं है। उन्होंने यह सब शास्त्रों का स्वाध्याय करके ही सीखा है, नयज्ञान से अनभिज्ञ गुरुओं के समागम से ही सीखा है; अत: यह गृहीतमिथ्यात्व है।

प्रश्न 5– इस अधिकार के विषयभूत जीव को, गृहीतमिथ्यादृष्टि की संज्ञा कैसे लागू हो सकती है?

उत्तर – 'जो, कुगुरु आदि के निमित्त से पुष्ट होता है, उस मिथ्यात्व को गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं'—गृहीतमिथ्यात्व की यह परिभाषा, व्यापक नहीं है; वास्तव में, **'जो अनादि मिथ्यात्व को पुष्ट करें, उसे गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं'**—यह परिभाषा, व्यापक है। सच्चे शास्त्रों को भी स्याद्वादशैली के बिना, सर्वथा माननेपर, गृहीतमिथ्यात्व होता है।

प्रश्न 6– इस अधिकार में कितने प्रकार के मिथ्यादृष्टि बताये गए हैं?

उत्तर – इस अधिकार में—1. निश्चयाभासी, 2. व्यवहाराभासी, 3. उभयाभासी, 4. सम्यक्त्व–सम्मुख—इन चार प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया गया है।

प्रश्न 7– इस अधिकार में वर्णित चारों जीव, मिथ्यादृष्टि कैसे हैं?

उत्तर – निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी—ये तीनों मिथ्यादृष्टि, निश्चय –व्यवहाररूप, नयों का मर्म नहीं जानते–पहिचानते; इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यक्त्वसम्मुख मिथ्यादृष्टि, तत्त्वविचारवाला है परन्तु तत्त्वप्रतीति के अभाव से, मिथ्यादृष्टि है।

नय तथा तत्त्वविचार, दोनों जैनागम के अलावा, अन्यत्र कहीं भी नहीं है; इससे जाना कि ये चारों, जैन–मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न 8– उक्त वर्णित, चारों मिथ्यादृष्टि भी, क्या कभी सम्यक्त्व को प्राप्त हो सकते हैं?

उत्तर – इनमें से भी जिस जीव का (मिथ्या) आभास मिट जाए; सत्यस्वरूप समझ में आये तथा तत्त्वविचार के विकल्प भी मिट जाएँ और स्वभाव का आश्रय ले, तब वह मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यक्त्व का अधिकारी हो जायेगा।

उक्त नियम, चारों प्रकार के मिथ्यादृष्टियों पर लागू पड़ता है।

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि

प्रश्न 9– आभास अर्थात् क्या और कैसे मिटे?

उत्तर – जो, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा तो न माने; अपनी मति–कल्पना से, वस्तुस्वरूप को अन्यथा ही माने, उस मान्यता को आभास कहते हैं। यथा— रेगिस्तान में, कड़ी धूप में चमकती रेत को, जल की तलाश में दौड़ता हिरण, जल मान लेता है, जबकि वहाँ जल है ही नहीं; वहाँ जल का आभासमात्र है।

मात्र, शास्त्राभ्यास से आभास नहीं मिटता; शास्त्र का अभिप्राय जानने –पहिचानने से, आभास मिटता है और सत्यस्वरूप समझ में आता है।

प्रश्न 10– तत्त्वविचार न करें तो सम्यग्दर्शन नहीं तथा तत्त्वविचार में अटकने से भी, सम्यग्दर्शन नहीं – ऐसा क्यों?

उत्तर – **'देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित, देवादि की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, तपश्चरणादि करे; उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचारसहित–इनके बिना भी, सम्यक्त्व का अधिकारी होता है; अतः तत्त्वविचार आवश्यक है।'** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 260)

इसके साथ ही तत्त्वविचार, स्वयं विकल्पात्मक होने से तथा सम्यग्दर्शन की प्रकटता में कारणभूत आत्मानुभवदशा निर्विकल्प होने से, वह तत्त्वविचार की भूमिका को भी पारकर, उसके विषयभूत आत्मा को सीधा स्वीकार

करनेपर प्रकट होती है; तत्त्वविचार में ही सन्तुष्ट होने से नहीं; अतः उसमें अटकने का निषेध किया है।

प्रश्न 11– निश्चयाभासी, स्वयं को, 'शुद्ध, केवलज्ञानसहित, रागादि व बन्धरहित' —जैसा शास्त्रों में कहा, वैसा ही मानता है; उसमें उसकी क्या भूल है?

उत्तर – निश्चयाभासी जैसा शास्त्र में कहा है, वैसा मानता है – यह सत्य है परन्तु जिस अपेक्षा से शास्त्रों में कहा है, उस अपेक्षा को न जानने से, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

जैसे–शास्त्रों में जीव को सिद्धसमान शुद्ध कहा, वह द्रव्य–अपेक्षा कहा; यह उसे पर्याय में भी, प्रकट (व्यक्त) मानता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 193)

शास्त्रों में जीव का केवलज्ञान स्वभाव कहा है, वह शक्ति अपेक्षा से कहा; यह उसे वर्तमान व्यक्त पर्याय में भी मानता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 194)

शास्त्रों में जीव को रागादिरहित कहा, वे रागादि, औपाधिकभाव हैं; जीव के स्वभावभाव नहीं हैं; यह समझाने के लिए बताया गया था परन्तु यह वर्तमान में भी स्वयं को, उनसे पूर्णतया रहित मानता है। तथा रागादिभाव जीव के अस्तित्व में ही होते हैं लेकिन यह उन्हें अपने अस्तित्व से भिन्न मानता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 195–196)

शास्त्रों में जीव को बन्धरहित कहा, वह जीव का कर्म के साथ तादात्म्य–सम्बन्ध नहीं है – इस अपेक्षा कहा, परन्तु यह स्वयं को सर्वथा बन्धरहित ही मानता है।

उक्त कारणों से निश्चयाभासी, स्वच्छन्द होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 198–199)

प्रश्न 12– निश्चयाभासी, किस प्रकार से स्वच्छन्दता करता है?

उत्तर – निश्चयाभासी, रागादि का पोषण करता है, विषयकषाय का सेवन करता है परन्तु स्वस्वरूप या धर्म में उपयोग नहीं लगाता। अपनी प्रमादवृत्ति के पोषण में, शास्त्रों के आधार प्रस्तुत कर, अपनी प्रमादवृत्ति को सही ठहराता है। यदि शास्त्र का सही आशय जाने तो स्वच्छन्दता न करे।

प्रश्न 13- निश्चयाभासी को आत्मा, किस दृष्टिकोण से देखने की शिक्षा, दी गयी है ?

उत्तर - **द्रव्यदृष्टि** से आत्मा, शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है; **पर्यायदृष्टि** से आत्मा संसारी है, अशुद्ध है, मति-श्रुतज्ञान तथा राग-द्वेषसहित है। **शक्ति अपेक्षा** से आत्मा, शुद्ध है अर्थात् मैं ऐसा (शुद्ध) होनेयोग्य हूँ। अर्थात् शुद्धस्वभावी अपने आत्मा का आश्रय करके, पर्याय में भी शुद्धता को प्राप्त कर सकता हूँ—ऐसा मानना, योग्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 14- 'क्या अपने आत्मा का शुद्ध अनुभवन ही मोक्षमार्ग है ?

उत्तर - आत्मा का, शुद्ध अनुभवन ही मोक्षमार्ग है-यह बात, परमसत्य होनेपर भी, शुद्ध-आत्मा को जानने के पूर्व, प्रमाण से, विविध नयों से, निक्षेप से, आत्मा को जानना जरूरी है। पर्याय की अशुद्धता की स्वीकृतिपूर्वक, शुद्धात्मा का आश्रय करना है। समग्र आत्मा को जाने बिना, शुद्धात्मा के अनुभवन की चर्चा तो सम्भव है परन्तु क्रियान्वयन सम्भव नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 15- रागादि भाव, जीव के हैं या पुद्गल के हैं ?

उत्तर - उपदेशदाता का अभिप्राय, रागादि विकारीभावों को मिटाने का है। जिसे रागादि होने का भय नहीं हो, वह उनको मिटाने का उपाय नहीं करता। रागादि भाव, कर्म से हुए मानकर, स्वयं को रागादि का अकर्ता मानता है। उसके रागादि मिटाने के अभिप्राय से, रागादि कर्मनिमित्त से जीव में हुए औपाधिकभाव हैं - ऐसा कहा; परन्तु जो उन्हें स्वभाव जानकर, मिटाने का उपाय नहीं करता, क्योंकि स्वभाव जाने तो उनको बुरा कैसे माने ? उन्हें मिटाने के अभिप्राय से ही स्वभाव की अपेक्षा से, उन्हें भिन्न कहा है और निमित्त की मुख्यता से, पुद्गल के कहा है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 195-196-197)

जिनवाणी में नाना नयों की अपेक्षा से, कथन हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 198)

प्रश्न 16- निश्चयाभासी के प्रकरण में, 'शुद्ध' शब्द के कितने अर्थ किये गए हैं ?

उत्तर - जीव में, दो अपेक्षाओं से शुद्धता कही गयी है, वह इस प्रकार —

1- **पर्यायापेक्षा शुद्धता**—औपाधिकभावों का अभाव होने का नाम, शुद्धपना है। यह पूर्णता प्राप्त होनेपर होती है।

2 – **द्रव्यापेक्षा शुद्धता**—यह भी, दो प्रकार से कही गयी है।

(a) परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना—ऐसी यह शुद्धता है। एक द्रव्य की सत्ता, अन्य द्रव्यरूप नहीं होती, यह द्रव्य की शुद्धता है। द्रव्य, अपने गुण-पर्यायों से अभेद है।

श्री समयसार, जीवाजीव-अधिकार, गाथा-6 की टीका में, यह भाव आया है—

'एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते'

यहाँ द्रव्यों में, परस्पर एकत्व-ममत्व की असम्भावना को दर्शाया गया है।

(b) दूसरी विवक्षा में, द्रव्यों में परस्पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की असम्भावना को दर्शाया गया है। एक द्रव्य, अन्य द्रव्य का कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण, नहीं होता। द्रव्य, स्वयं ही अपना कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण है।

श्री समयसार, गाथा-73 में, भिन्न षट्कारकीय व्यवस्था का निषेध करके, अभिन्न षट्कारकीय व्यवस्था की स्थापना करके, स्वतन्त्र द्रव्यसत्ता को दर्शाया है—

'समस्तकारकचक्र-प्रक्रियोत्तीर्ण-निर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 17 – 'द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध, सर्व पर्यायों का समुदाय है'—द्रव्य की इस परिभाषा का क्या आशय है?

उत्तर – निश्चयाभासी, पर्याय की सत्ता से अथवा पर्याय के विकार (अशुद्धता) से इन्कार करता है; अतः उसे प्रमाण के विषयभूत द्रव्य को दिखाया गया है। प्रमाण का विषयभूत 'द्रव्य', शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है। परम शुद्धनिश्चयनय का विषयभूत 'द्रव्य', पर्यायों से पार है अर्थात् इस अपेक्षा से, पर्यायें, गौण हो जाती हैं अथवा द्रव्य में गर्भित हो जाती हैं। परमशुद्धनय से देखनेपर, पर्यायें दिखती ही नहीं हैं परन्तु पर्यायार्थिकनय से देखनेपर, पर्यायें हैं तथा संसारावस्था में उस पर्याय में, विकार (अशुद्धता) भी है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 18- सर्व पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहने की, क्या-क्या विवक्षाएँ हैं?

उत्तर - द्रव्य, गुणपर्यायवान है। तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का 38वाँ सूत्र- '**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**', इसी की तरफ संकेत करता है। द्रव्य की यह परिभाषा, द्रव्य के उभयपक्षों से की गयी है।

यदि पर्यायों को गौण किया जाए अथवा गुणों में गर्भित किया जाए, तो द्रव्य को गुणों के समुदाय के रूप में परिभाषित किया जाता है। '**गुणसमुदायो द्रव्यमिति**'-ऐसा सर्वार्थसिद्धि टीका (पाँचवें अध्याय के दूसरे सूत्र) में कहा है।

अब यदि, गुणों को गौण किया जाए अथवा पर्यायों में गर्भित किया जाए तो त्रिकालवर्ती पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहा जा सकता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 19- 'सर्वभेद जिसमें गर्भित हैं—ऐसा चैतन्यभाव, सो पारिणामिकभाव' इस वाक्य का खुलासा करें?

उत्तर -

द्रव्य[1]

	द्रव्य[2]	पर्याय
द्रव्य[3]	सामान्य	विशेष
क्षेत्र	अभेद	भेद
काल	नित्य	अनित्य
भाव	एक	अनेक

(1) द्रव्य[1] = प्रमाण का विषय;

(2) द्रव्य [2] = द्रव्यार्थिकनय का विषय;

(3) द्रव्य [3] = चतुष्टय का एक अंश।

विशेष, भेद, अनित्य तथा अनेक, वस्तु को अलग-अलग विवक्षा से भेदरूप दिखाते हैं। उसी प्रकार, सामान्य, अभेद, नित्य तथा एक, ये अलग-अलग भी वस्तु को भेदरूप ही दिखाते हैं। त्रिकाली ध्रुव, परमाराध्य समयसार तो सामान्य, अभेद, नित्य तथा एक का समुच्चय, अभेद है। दृष्टि का विषय, सर्वथा अभेद है। उक्त वर्णित (एक से तीन) द्रव्य के अतिरिक्त, द्रव्य की एक चतुर्थ विवक्षा भी है; यथा—

(4) द्रव्य [4] = सामान्य + अभेद + नित्य + एक;

(4) द्रव्य [4] = पारिणामिकभाव।

इस पारिणामिकभाव में किसी प्रकार का प्रदेश, पर्याय, गुण का भेद नहीं होता।

यहाँ, परमपारिणामिकभाव का अर्थ, त्रिकाल स्वभाव है। क्षायिकभाव, क्षणिकभाव है; अत: प्रकट करनेयोग्य उपादेय है। इस क्षायिकभाव की प्रकटता, पारिणामिकभाव के आश्रय से होती है। पारिणामिकभाव, अभेद है और क्षायिकभाव, भेद (खण्ड) रूप है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 194)

प्रश्न 20- 'शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय, द्रव्य है'—यह परिभाषा, सभी द्रव्यों में कैसे लगेगी ?

उत्तर - द्रव्य की परिभाषा तो त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों के समुदायरूप है। यह परिभाषा, सर्व द्रव्यों में व्यापक है। शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायों के समुदाय को द्रव्य कहने से, यह परिभाषा, **केवल जीव और पुद्गल में ही सम्भव है** क्योंकि धर्मादि चार द्रव्य तो शुद्धपर्यायों के ही पिण्ड हैं। **यहाँ विशेषरूप से जीवद्रव्य का प्रकरण है**। यह परिभाषा, सिद्धों में भी व्यापक है। सिद्धों की वर्तमान पर्यायें, भले ही शुद्ध हैं परन्तु उनकी अतीत (संसारावस्था) की पर्यायें, यथासम्भव अशुद्ध ही थीं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 21- 'अपने को द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना'–क्या यह चिन्तन, सम्यग्दृष्टि होने का उपाय है ?

उत्तर - सात तत्त्वों का ज्ञान, इसीलिए कराया गया है कि आत्मा को द्रव्यस्वभाव से तथा पर्यायस्वभाव से जाना जा सके। प्रमाण का विषय, मुख्य-गौण किए बिना, वस्तु के दोनों अंश हैं—द्रव्य तथा पर्याय। द्रव्य तथा पर्याय, दोनों ज्ञान के ज्ञेय हैं। श्रद्धा का श्रद्धेय तो द्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मा) ही है। स्व-पर, हेय तथा उपादेय तत्त्वों का ज्ञान करके, स्व (निज भगवान आत्मा) में, एकत्व (अहं) स्थापित करना ही, सम्यक्त्व होने का उपाय है।

यहाँ पण्डितजी, निश्चयाभासी को द्रव्य तथा पर्याय, दोनों का अवलोकन, चिन्तन (ज्ञान) करने की प्रेरणा दे रहे हैं, जिससे द्रव्य (ध्रुव) का सच्चा स्वरूप, ज्ञान तथा श्रद्धान में आए।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 200)

प्रश्न 22– 'जब प्रतिमावत् तेरी दशा हो जायेगी, तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे; तेरा कर्तव्य नहीं मानेंगे'—इस वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर – निश्चयाभासी, सब कुछ (विषयभोग आदि) परिणामपूर्वक करता है और कहता है कि यह सब प्रारब्ध (भाग्य, योग्यता, कर्मोदय) से हो रहा है। इस छल का निराकरण करने हेतु, पण्डितजी, उपर्युक्त तर्क दे रहे हैं।

छद्मस्थ के बाह्य प्रवृत्ति की जिम्मेदारी, स्वयं जीव ही की है—ऐसा पण्डितजी ने पृष्ठ 291 पर स्वयं कहा है—'आत्मपरिणामों के और बाह्य प्रवृत्ति के निमित्त –नैमित्तिक सम्बन्ध है क्योंकि छद्मस्थ के क्रियाएँ, परिणामपूर्वक होती हैं; कदाचित् बिना परिणाम कोई क्रिया होती है, सो परवशता से होती है; अपने वश से उद्यमपूर्वक कार्य करे और कहे कि परिणाम, इसरूप नहीं हैं, सो यह भ्रम है।'

जब प्रतिमावत् (अरहन्तावस्था) दशा हो, तो बिना परिणाम के उठना–बैठना, विहार, उपदेशरूप सहज प्रवृत्ति सम्भव है; उससे पूर्व नहीं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 204)

प्रश्न 23– वेदान्त के तथा समयसार के विषयभूत 'आत्मा' में, क्या अन्तर हैं?

उत्तर – वेदान्ती तथा समयसार का विषयभूत आत्मा, शुद्ध तो है लेकिन समयसार का विषयभूत आत्मा (शुद्धात्मा), समस्त संसार विकारों से रहित, निर्मल है परन्तु वेदान्ती का आत्मा तो निरपेक्ष शुद्ध माना गया है; वे संसार की सत्ता, पर्यायदृष्टि से भी नहीं मानते हैं। द्रव्य के दो अंश—सामान्य तथा विशेष की स्वीकृति, वेदान्त नहीं करता है।

इसके विपरीत, समयसार में वर्णित आत्मा, सापेक्ष, शुद्ध है। इसमें अशुद्धपर्यायों को गौण किया गया है; निषेध नहीं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 199)

प्रश्न 24– सम्यग्दृष्टि के गुणश्रेणी निर्जरा होती है या नहीं ?

उत्तर – तत्त्वार्थसूत्र, नौवें अध्याय के 45वें सूत्र में, असंख्यातगुणी निर्जरा के दस स्थान कहे हैं, वे इस प्रकार हैं —

1– जब सातिशय मिथ्यादृष्टि, करणलब्धि के काल में, अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में, जितने कर्मों की निर्जरा करता है, उससे भी असंख्यातगुणी निर्जरा, जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, तब; 2. यही जीव, जब पंचम गुणस्थान में आता है, तब अन्तर्मुहूर्त के लिए; 3. यही जीव, जब सातवें गुणस्थान में आता है, तब अन्तर्मुहूर्त के लिए; 4. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना में, अन्तर्मुहूर्त के लिए; 5. दर्शनमोह की क्षपणा में, अन्तर्मुहूर्त के लिए; 6. उपशमश्रेणी में; 7. उपशान्तमोह गुणस्थान में; 8. क्षपकश्रेणी में; 9. क्षीणमोह गुणस्थान में और 10. केवली होनेपर, करता है।

—इससे यह बात सिद्ध होती है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के, असंख्यात गुणी निर्जरा तो होती है परन्तु सदा काल नहीं होती है; कदाचित् (कभी–कभी) होती है। जैसे–प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति के काल में, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजन के काल में अथवा दर्शनमोह की क्षपणा के काल में होती है।

इस प्रकार, हमें दोनों कथनों में विवक्षा भेद समझना चाहिए।

किन्हीं आचार्यों के विचार से, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, सतत गुणश्रेणी निर्जरा करता है और यह, चौथे गुणस्थान में भी सम्भव है।

प्रश्न 25– 'मात्र आत्मज्ञान ही से तो मोक्षमार्ग होता नहीं है'—इस वाक्य का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – वास्तव में आत्मा का स्वरूप ही स्व–पर प्रकाशक है। एक समय में ही, छद्मस्थ के क्षायोपशमिक ज्ञान के दो अंश होते हैं; एक लब्धि और एक उपयोग। दोनों प्रकट पर्याय के ही अंश हैं। इसीलिए आत्मज्ञान के साथ–साथ, अनात्मज्ञान भी वर्तता ही वर्तता है। ज्ञान का स्वरूप ही, साकार प्रतिभास है। 'यह अमुक चीज है; अमुक चीज़ नहीं है'—ऐसा जानना, ज्ञान के स्वरूप में

शामिल है। आत्मा का सच्चा ज्ञान, अनात्मा के ज्ञान से होता है। यह अस्ति–नास्तिपरक, आत्मा, ज्ञान ही है—ऐसा भी दूसरी भाषा में हम कह सकते हैं। छहों द्रव्य, ज्ञेय हैं; केवल आत्मा नहीं। सातों तत्त्व, ज्ञेय; केवल आत्मा (जीवतत्त्व) नहीं, क्योंकि समग्र आत्मा को जाने बिना, आत्मा (जीवतत्त्व) का ज्ञान, सच्चा नहीं है। हाँ, श्रद्धा का श्रद्धेय तो आत्मा (जीवतत्त्व) ही है। वही आश्रय करनेयोग्य होने से, आत्मज्ञान को ही कार्यकारी कहा है। 'आत्मज्ञान ही ज्ञान है' कहकर, आत्मा में 'यह मैं'—ऐसा ज्ञान ही सम्यक् है, ऐसा आशय है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 202)

प्रश्न 26– क्या स्व को जानने में, पर को जानने की अपेक्षा, संवर–निर्जरा अधिक होती है?

उत्तर – संवर–निर्जरा का सम्बन्ध, ज्ञान के ज्ञेय से नहीं, वरन् वीतरागता से है। **इस प्रकार परद्रव्य को जानते हुए भी, वीतरागभाव होता है—ऐसा श्रद्धान करना।**

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 212)

प्रश्न 27– 'निर्विचार होने का नाम, निर्विकल्प नहीं है'—इस वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर – ज्ञान का कोई ज्ञेय (अमुक वस्तु) न बने–इसे अज्ञानी (निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि) निर्भारता मानता है। **वह निर्विचार होना चाहता है अर्थात् वह अपने मन को अमुक दिशा में जाने से रोकना चाहता है** परन्तु मन है तो विचार अनिवार्य हैं और ऐसे विचार / ज्ञप्ति–परिवर्तनरूप बारहवें गुणस्थान तक, बनते ही रहते हैं। केवलियों के भी, पर का जानना होता है परन्तु वह मन के अवलम्बन से नहीं है। यह मात्र छद्मस्थ का विषय है।

निर्विचार होने का नाम, 'निर्विकल्प' नहीं है क्योंकि छद्मस्थ को जानना, विचारसहित होता है; उसका अभाव मानने से, ज्ञान का अभाव हो, तब जड़पना हुआ, वह आत्मा को होता नहीं है; इसलिए विचार तो रहता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 210)

प्रश्न 28– निर्विकल्पदशा कहने की, क्या विवक्षा है?

उत्तर – राग–द्वेषवश, किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय को जानने से छुड़ाना; इस प्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना, उसका नाम विकल्प

है। जहाँ वीतरागरूप होकर, जिसे जानते हैं, उसे यथार्थ जानते हैं; अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के लिए, उपयोग को भ्रमाते नहीं हैं, वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—छद्मस्थ का उपयोग तो नाना ज्ञेयों में भ्रमता ही भ्रमता है, वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है?

उसका उत्तर—जितने काल, एक जाननेरूप रहे, तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्त में ध्यान का लक्षण ऐसा ही किया है —

'एकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानम्।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 211/त.सूत्र, 9/27)

प्रश्न 29- तत्त्वविचार, कर्म के क्षयोपशम से होगा या पुरुषार्थ से होगा?

उत्तर - तत्त्वविचारादि करनेयोग्य, क्षयोपशम तो सभी संसारियों के पाया जाता है। यथार्थ उद्यम करे, तो तत्त्वविचार हो सकता है; अत: तत्त्वविचार, मुख्यतया पुरुषार्थ से जानना; कर्म से नहीं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 197)

प्रश्न 30- निश्चयाभासी, धर्म के किन अंगों का निषेध करता है?

उत्तर - निश्चयाभासी, 'शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है; द्रव्य आदि तथा गुणस्थान-मार्गणा-त्रिलोक आदि के विचार को, विकल्प ठहराता है; तपश्चरण करने को, वृथा क्लेश करना मानता है; व्रतादि के धारण करने को, बन्धन में पड़ना ठहराता है; पूजनादि कार्यों को, शुभास्रव जानकर, हेय प्ररूपित करता है; इत्यादि सर्व साधनों का निषेध कर, प्रमादी होकर परिणमित होता है।'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 200)

प्रश्न 31- शास्त्राभ्यास आदि का निषेध करना, क्यों उचित नहीं है?

उत्तर - शास्त्राभ्यास द्वारा, तत्त्वों को विशेष जानने से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होते हैं; तथा वहाँ, जब तक उपयोग रहे, तब तक कषाय, मन्द रहती है तथा आगामी वीतरागभावों की वृद्धि होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 200)

इसलिए शास्त्राभ्यास आदि का निषेध कर, स्वच्छन्दता का पोषण, उचित नहीं है।

प्रश्न 32- परिषहों के होनेपर, मुनि उन्हें जानते हैं या नहीं ?

उत्तर - 'मुनियों को स्त्री आदि का परिषह होनेपर, उनको जानते ही नहीं; अपने स्वरूप का ही जानना रहता है'—ऐसा मानना, मिथ्या है। मुनिराज, जानते तो हैं परन्तु राग-द्वेष नहीं करते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 212)

प्रश्न 33- पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, सम्यग्दर्शनादि कब होते हैं ?

उत्तर - आप ही में आप (अपनेपन) का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण होने से, परद्रव्य में राग-द्वेषादि परिणति करने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण मिट जाए, तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं।.....

जहाँ आप को आपरूप; पर को पररूप यथार्थ जानता रहे, वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 213)

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

प्रश्न 34- व्यवहाराभासी जीव, मिथ्यादृष्टि क्यों है ?

उत्तर - व्यवहार, निश्चय के साथ प्रकट होता है; निश्चय के अभाव में, व्यवहार आभासमात्र होता है। इसी व्यवहाराभास का पक्ष कर, उसे धर्म जानकर, मिथ्यात्वरूप परिणमता है; इसलिए व्यवहाराभासी जीव, मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न 35- व्यवहाराभास कितने प्रकार से होता है ?

उत्तर - व्यवहाराभास—1. कुल अपेक्षा, धर्म मानने से, 2. परीक्षा बिना, आज्ञा मानने से, 3. सांसारिक प्रयोजन से धर्म धारण करने से, 4. निश्चयधर्म को नहीं जानकर; अभूतार्थरूप धर्म को साधने से, होता है।

प्रश्न 36- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अन्यथास्वरूप, कौन-से व्यवहाराभास के अन्तर्गत आता है ?

उत्तर - जहाँ व्यवहाराभास है, वहाँ सामान्यतया सभी प्रकार का व्यवहाराभास होता है। पुनश्च उक्त अन्यथास्वरूप, सच्ची परीक्षा बिना, निश्चयधर्म न जानकर, अभूतार्थरूप धर्म साधनेवाले, व्यवहाराभासी के अन्तर्गत आते हैं।

प्रश्न 37– व्यवहाराभासी, धर्म के अंगों का साधन करनेपर भी, मिथ्याभाव को क्यों प्राप्त होता है ?

उत्तर – व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से, पुण्यबन्ध होता है; इसलिए पापप्रवृत्ति की अपेक्षा से तो इसका निषेध है नहीं, परन्तु यहाँ जो जीव, व्यवहारप्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर, सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं होते, उन्हें मोक्षमार्ग के सम्मुख करने के लिए, उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी, निषेधरूप निरूपण करते हैं।

वह, जिनागम के व्यवहारधर्म की मुख्यतावाले उपदेश को मानकर, बाह्य साधनादि ही का श्रद्धान करता है। निश्चयधर्म के श्रद्धानादि के अभाव में, उसके धर्म के सर्व अंग, अन्यथारूप होकर, मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 213)

प्रश्न 38– नवीन मार्ग में प्रवर्तना उचित नहीं है, तब कुल अपेक्षा, धर्म मानने में क्या दोष है ?

उत्तर – परम्परा छोड़कर, अपनी बुद्धि से नवीन मार्ग में प्रवर्तना उचित नहीं है परन्तु कालदोष से, पापीपुरुषों की चलाई, पापरूप परम्परा का निषेध कर, अनादिनिधन जैनपरम्परा के अनुसार ही प्रवर्तन करें। विवाहादि कार्यों में ही कुलक्रम का विचार करें। धर्म में यथार्थ को ग्रहण करें; कुलक्रम को नहीं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 214-215)

प्रश्न 39– जिन-आज्ञा तो, जिन-आज्ञा है, उसमें परीक्षा का क्या काम ?

उत्तर – आज्ञा मानना, परन्तु परीक्षा करके मानना। आज्ञा मानना ही धर्म हो तो वह सभी धर्मवाले मानते हैं—वे सभी, धर्मात्मा सिद्ध होंगे। परीक्षा बिना, सत्य-असत्य का निर्णय नहीं होता; निर्णय बिना, दृढ़ता नहीं होती, असत्य का यथार्थपने त्याग नहीं होता। यथार्थ सत्य श्रद्धान के लिए, परीक्षा ही एकमात्र उपाय है।

हाँ, इतना तो है कि जिनमत में पाप की प्रवृत्ति, विशेष नहीं हो सकती है और पुण्य के निमित्त बहुत हैं तथा सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी, वहाँ बने रहते हैं; इसलिए जो कुलादि से भी जैनी हैं, वे भी औरों से तो भले ही हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 215-218)

प्रश्न 40- धर्म भी सधे और आजीविका भी सधे, तो क्या दोष है ?

उत्तर - धर्म के साधन, पूजा-शास्त्रादि कार्यों को आजीविकादि पाप का भी साधन बनाए, तो पापी ही है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 219)

प्रश्न 41- व्यवहाराभासी की स्थूल भूलें क्या हैं ?

उत्तर - कुलप्रवृत्ति से; देखा-देखी या लोभादि के अभिप्राय से धर्मसाधना, धर्मदृष्टि नहीं होना; भक्ति में, भक्ति के प्रयोजन का विचार नहीं करना; भक्ति में, देव -कुदेवों का विचार नहीं करना; दान में, पात्र-अपात्र के विचार बिना, अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देना; महन्तपना हो, वैसे उपवासादि करना; व्रतादि में, बाह्यक्रिया पर दृष्टि है परन्तु परिणामों का विचार नहीं करना; जिसमें बड़ाई हो, वैसी पूजा-प्रभावना करना; पद्धतिबुद्धि से शास्त्राभ्यास करना, इत्यादि—ये व्यवहाराभासी की स्थूल भूलें हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 220)

प्रश्न 42- टोडरमलजी के अनुसार, सम्यग्दर्शन का अन्यथा स्वरूप क्या है ?

उत्तर - शास्त्र में, देव-गुरु-धर्म की प्रतीति को तथा तत्त्वार्थश्रद्धान को, सम्यग्दर्शन कहा है। देवादि को, सम्यग्दर्शन का साधन कहा है, वहाँ यह जीव, अर्हन्तदेव -निर्ग्रन्थगुरु-जैनशास्त्र के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग करता है परन्तु उनके गुण-अवगुण की परीक्षा नहीं करता; परीक्षा भी करता है तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करता अथवा बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करता है। तथा ऐसी प्रतीतिपूर्वक देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति में, प्रवर्तता है।

शास्त्रों में, जैसे जीवादि तत्त्व कहे हैं, वैसे सीख लेता है, वहाँ उपयोग लगाता है, औरों को उपदेश भी देता है परन्तु उन तत्त्वों का भावभासन नहीं करता। उक्त सभी, सम्यग्दर्शन के अन्यथास्वरूप में आते हैं।

प्रश्न 43- 'रागादि मिटाने का श्रद्धान ही, सम्यग्दर्शन है'—सम्यग्दर्शन की इस परिभाषा की क्या विशेषता है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं —

1. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान; 2. सात तत्त्वों का श्रद्धान; 3. आपा-पर का श्रद्धान; तथा 4. आत्मा का श्रद्धान।

परन्तु निश्चयाभासी जीव, इन लक्षणों का छल ग्रहण कर, विषयपोषण कर सकता है; अतः उसे, विषयपोषणसम्बन्धी राग-द्वेष के निवारण की ओर से, यह अत्यन्त उपयुक्त, तथा प्रयोजनपरक, परिभाषा दी गयी है कि–'**जिस प्रकार रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान, सम्यग्दर्शन हैं।**'

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 213)

प्रश्न 44- अज्ञानी तथा ज्ञानी की भक्ति में क्या अन्तर है?

उत्तर - अज्ञानी, भक्ति की प्रधानता की दृष्टि से अर्थात् उसे उपादेय मानकर, भक्ति करता है और ज्ञानी, आत्मशुद्धि की प्रधानता की दृष्टि से अर्थात् उसे हेय (परन्तु तत्काल प्रयोजनभूत) मानता हुआ, भक्ति करता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 222)

प्रश्न 45- आगम तथा अध्यात्मशास्त्रों में वर्णित सात तत्त्वों में क्या अन्तर है?

उत्तर - **आगमशास्त्रों** में वर्णित सात तत्त्व, वर्णनात्मक और भेद-प्रभेदात्मक हैं; अतः वहाँ संख्या आदि की विशेषता है। यह वर्णन, परम्परा से वीतरागता का भी कारण है।

अध्यात्मशास्त्रों में वर्णित सात तत्त्व, विस्तार से रहित, संक्षिप्त तथा प्रयोजनपरक हैं। अध्यात्मशास्त्रों में तत्त्वों के भेद-प्रभेद को गौण करके, उसमें स्व-पर और हेय-उपादेयता की मुख्यता से निरूपण होता है, जिससे सीधे भेद-विज्ञान तथा वीतरागता का लाभ सम्भव है।

प्रश्न 46- चौथे अधिकार के सात तत्त्वों के अयथार्थ श्रद्धान, और सातवें अधिकार के, सात तत्त्वों के अन्यथा स्वरूप में, क्या अन्तर है?

उत्तर - पण्डितजी ने, **चौथे अधिकार** में, सात तत्त्वों के अयथार्थ श्रद्धान का वर्णन, 'सामान्य संसारी जीवों के मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति कैसे पायी जाती है?'–इस तथ्य को समझाने के लिए किया है। **सातवें अधिकार** में, सात तत्त्वों का अन्यथास्वरूप, व्यवहाराभासी कैसे मानता है, इसे समझाने के लिए किया है।

अर्थात् दोनों जगह, शिष्य भिन्न-भिन्न हैं। **चौथे अधिकार** का शिष्य, सामान्य संसारी जीव है; **सातवें अधिकार** का शिष्य, पढ़ा-लिखा (परन्तु व्यवहाराभासी) शिष्य है।

शिष्यों की भिन्नता से, एक विषय में वर्णन की भिन्नता आयी है।

तत्त्व	चौथे अधिकारवाले संसारीजीव की भूलें (अल्प-क्षयोपशमवाला)	सातवें अधिकारवाले संसारीजीव की भूलें (विशेष-बुद्धिवाला)
जीव-अजीवतत्त्व	वह आत्मा और शरीर के भेद को नहीं जानता, 'जिस-तिस प्रकार से, आप और शरीर को एक मानता है।'	भेदों को जानता है, भावभासन के बिना, कथन (उपदेश) भी करता है; क्षायोपशमिकज्ञान में, वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करता है; ज्ञानक्रिया की तरह, उपवासादि शरीराश्रित क्रियाओं में अपनत्व मानता है।
आस्रवतत्त्व	औपाधिकभाव तथा स्वभावभाव में भेद नहीं जानता।	आस्रवों के भेदों को जानता है, उन भेदों को बाह्यरूप से तो मानता है परन्तु अन्तरंग में उन भावों की जाति को नहीं पहिचानता; पापास्रव को हेय तथा पुण्यास्रव को उपादेय मानता है। बाह्य क्रोधादि को कषाय जानता है परन्तु अभिप्राय में रहनेवाले राग-द्वेषों को नहीं पहिचानता।
बन्धतत्त्व	ज्ञानादि होने आदि में तथा शरीरादि संयोगों में, मूलकारण, पूर्वबद्ध कर्म के उदयादि को न जानकर; स्वयं को या अन्य को, कारण मानता है।	अशुभभावों से नरकादि के तथा शुभभावों से देवादि के बन्ध को जानता है परन्तु अशुभबन्ध को बुरा व शुभबन्ध को भला जानता है।
संवरतत्त्व	संवर को जानता नहीं, बाह्य पदार्थों को सुख-दु:ख का कारण जानकर, हटाने अथवा मिलाने का प्रयत्न करता है।	संवरतत्त्व को शास्त्रों से जानता है परन्तु शुभास्रवभावों को, जो कि आस्रवरूप हैं, उन्हें संवर जानता है; गुप्ति, समिति, संवर के हेतुओं के, यथार्थस्वरूप को नहीं जानता।

निर्जरातत्त्व	कर्म तथा उनकी दु:खदायक अनुभाग-शक्ति के ज्ञान के अभाव में, अन्य पदार्थों को दु:खदायक जानकर, हटाने का प्रयत्न करता है।	बाह्य-तपादि से निर्जरा मानता है; शुद्धता को निर्जरा का कारण नहीं मानता।
मोक्षतत्त्व	बन्ध के स्वरूप के ज्ञान के अभाव से, मोक्ष को कर्म के अभावरूप नहीं जानता।	सिद्ध होने को, मोक्ष होना मानता है परन्तु अनन्त ज्ञानादि के प्राकट्य को मोक्ष नहीं जानता; सिद्धों के सुख को, स्वर्गसुख के गुणाकार के रूप में जानता है; दोनों की जाति की भिन्नता को नहीं पहिचानता।

इस प्रकार चौथे तथा सातवें अधिकार में, सात तत्त्वों के कथन में अन्तर है।

प्रश्न 47– आस्रव के कारणों का वर्गीकरण, किस प्रकार है?

उत्तर – तत्त्वार्थसूत्र में, आस्रव के पाँच कारण बताए हैं, वे इस प्रकार हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग। समयसारजी में, आस्रव के चार कारण बताए हैं, वे इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग।

उक्त दोनों में, विवक्षा-भेदमात्र है; परस्पर विरोध नहीं है। संज्वलनकषाय की तीव्रता में होने के कारण, प्रमाद के सभी भेदों का अन्तर्भाव, कषाय में हो जाता है; अत: पृथक् से नहीं कहा।

पण्डित टोडरमलजी ने समयसार की शैली अपनाई है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 226)

प्रश्न 48– 'हिंसा में प्रमादपरिणति, मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा, मूल है'— इस वाक्य का क्या अर्थ है?

उत्तर – हिंसा और विषयसेवन तो बाह्यप्रवृत्तिरूप हैं। मिथ्यादृष्टि, इन्हीं को रोकने का असफल प्रयास करता हुआ, आस्रव को प्राप्त होता है। निज आत्मा के लक्ष्य से, वीतरागता को उपादेय मानकर, ज्ञानी जीव, प्रमाद तथा अभिलाषा का निवारण करते हैं; इसलिए उनके जीवन में हिंसा तथा विषयसेवन की मुख्यता

नहीं होती और कदाचित् होते हुए भी, उनसे विरक्त रहने के कारण, वे आस्रव से निवृत्त होते हैं अर्थात् संवर की प्राप्ति करते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 227)

प्रश्न 49- मुनिराज, एषणासमिति के अन्तर्गत, हिंसा न होनेपर भी, भोजन का त्याग क्यों कर देते हैं?

उत्तर - समितिमात्र का प्रयोजन, अति आसक्ति का अभाव है। एषणासमिति, जिन 46 दोषों तथा 32 अन्तरायों को टालकर होती है, उसमें कितने ही दोष और अन्तराय ऐसे हैं, जिनमें हिंसा होने की कोई बात ही नहीं है; जैसे-अश्रुपात नामक अन्तराय (दु:ख से आँसू निकलते देखना) में कोई जीवहिंसा नहीं हुई; फिर भी मुनिराज, भोजन लेना, अति आसक्ति का प्रतीक मानकर, उसे त्याग देते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 228)

प्रश्न 50- चारित्र के कितने भेद हैं?

उत्तर - चारित्र के तेरह भेद हैं। यथा—5 महाव्रत, 5 समिति तथा 3 गुप्ति।

प्रश्न 51- उपचार से, मोक्षमार्ग के निमित्त व सहचारी कौन है?

उत्तर - पण्डितजी के मूलवचन इस प्रकार हैं—'**जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये, सो 'व्यवहारमोक्षमार्ग' है।**'

यथार्थ मोक्षमार्ग, वीतरागता (ज्ञानधारा) रूप है। यही संवर-निर्जरामय है। इस शुद्धभावरूप मोक्षमार्ग की अपूर्णता में, इसके साथ सानुपातिक रागादिभाव तथा भूमिकानुसार शरीरादि की प्रवृत्ति भी होती है। इनमें से शुद्धभाव के साथ, वर्तनेवाला राग, **सहचर** कहलाता है। यह आस्रव-बन्धरूप है; अत: कर्मधारा है। अपूर्ण शुद्धभाव के साथ, वर्तनेवाली शरीर की क्रिया, अजीवतत्त्व होने से, बन्ध-मोक्ष में कारण नहीं है; यह ज्ञेयतत्त्व है, इसे **निमित्त** कहते हैं। इन सहचर तथा निमित्त, दोनों को उपचार से मोक्षमार्ग कहते हैं; अत: ये व्यवहार मोक्षमार्ग हैं।

शरीर की क्रिया, भूमिका (विशिष्ट शुद्धि) के पूर्व, पश्चात् तथा साथ भी

हो सकती है। जैसे–28 मूलगुण का पालन, छठवें गुणस्थान के पूर्व, पहले से लेकर, पाँचवें गुणस्थान तक भी पाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में, यह क्रिया, **पूर्वचर** नाम पाती है। मूलगुणों का पालन, छठवें गुणस्थान से गिरने के बाद, पहले से पाँचवें गुणस्थान तक भी पाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह क्रिया, **उत्तरचर** नाम पाती है। यदि ये मूलगुण, छठवें गुणस्थान में हों तो **सहचर** नाम पाते हैं; इसीलिए शारीरिक क्रियाओं को निमित्त नाम प्राप्त है। इसके साथ ही, वे अनुकूल होने से भी, निमित्त कहलाते हैं।

जो शुभभाव, जिस गुणस्थान में सम्भव हैं, उन शुभभावों को, सहचर के अन्तर्गत लिया गया है।

प्रश्न 52– 'सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार'—क्या ऐसा लक्षण, सर्वत्र लागू होता है?

उत्तर – पण्डितप्रवर टोडरमलजी कहते हैं–'**निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण, वह निश्चय; उपचार निरूपण, वह व्यवहार।**'

उक्त लक्षण, सर्वत्र लागू होता है परन्तु केवल मोक्षमार्ग में; अन्यत्र ऐसा कोई नियम नहीं है। जैसे–जीव को रागी या वीतरागी कहना भी व्यवहारनय (सद्भूतव्यवहार) का विषय है परन्तु जीव, उपचार से रागी या वीतरागी कहा जाता है–ऐसा नहीं है। जीव, वास्तव में राग (संसार) और वीतराग (मोक्ष) अवस्था को प्राप्त होता है।

प्रश्न 53– व्यवहाराभासी का सम्यग्ज्ञान के विषय में, अन्यथापना क्या है?

उत्तर – शास्त्र में, शास्त्राभ्यास को सम्यग्ज्ञान का कारण कहा है–ऐसा जानकर, शास्त्रों को सीखने आदि में उपयोग लगाता है परन्तु शास्त्रतात्पर्य (प्रयोजन) पर दृष्टि नहीं रखता; औरों को सम्बोधन देने का अभिप्राय रखता है। महन्तादि लौकिक प्रयोजनसहित शास्त्राभ्यास करता है। पुण्य-पाप के फल से संसार; शुद्धोपयोग से मोक्ष को, ज्यों का त्यों नहीं जानता। आप को आपरूप, पर को पररूप जानने के ज्ञान को, सम्यग्ज्ञान नहीं जानता। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—ऐसा आपको परद्रव्य

से भिन्न, केवल चैतन्यद्रव्य (रूप) अनुभव नहीं करता—यही व्यवहाराभासी का, सम्यग्ज्ञान के विषय में अन्यथापना है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 235-237)

प्रश्न 54- शास्त्रानुसार आचरण करते हुए भी, उसमें अन्यथापना क्यों होता है?

उत्तर - **'बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है तथा यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई देते हैं, उन्हीं पर (इनकी) दृष्टि रहती है परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करनेपर, अभिप्राय में जो वासना है, उसका विचार नहीं करते हैं और फल लगता है, वह अभिप्राय में जो वासना है, उसका लगता है।'**

अर्थात् क्रिया-परिणाम-अभिप्राय-वासना, इन चारों में निर्दोषता के अभाव में, शास्त्रानुसार आचरण करते हुए भी, उसमें अन्यथापना पाया जाता है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 238)

प्रश्न 55- निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी व उभयाभासी में क्या अन्तर है और ये तीनों आभास, किस गुण की पर्यायें हैं?

उत्तर - **निश्चयाभासी,** द्रव्य को सर्वथा शुद्ध ही मानता है; किसी भी अपेक्षा, पर्याय की अशुद्धि को स्वीकार नहीं करता। शुभभाव तथा शुभक्रियाओं को सर्वथा हेय मानता है; इसलिए उनका त्याग करता है।

व्यवहाराभासी, द्रव्य की शुद्धता को नहीं समझता। बाह्य क्रियाओं तथा शुभभावों को ही उपादेय तथा मोक्ष का कारण मानता है। धार्मिक बाह्य क्रियाओं को वह **अमृत**समान समझता है।

उभयाभासी, शुद्धता के साथ, शुभभाव तथा शुभक्रियाओं को भी एक-समान उपादेय मानता है। मोक्षमार्ग में दोनों का योगदान मानकर, वह, दोनों को ही **अमृत**समान समझता है।

ज्ञानी, शुद्धस्वरूप के साथ वर्तनेवाले शुभभाव को जानता है और उसके निमित्त में होनेवाली क्रियाओं का भी ज्ञाता है। ज्ञानी के जीवन में दोनों होनेपर भी, वह शुद्धभाव को **अमृत** और शुभभाव को **जहर** मानता है।

उक्त तीनों आभास, श्रद्धागुण के विकारीपरिणमनरूप, विपरीत मान्यताएँ हैं।

प्रश्न 56- सातिशय मिथ्यादृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो जीव, अन्तर्मुहूर्त में ही सम्यक्त्व को प्रकट करनेवाला है, ऐसे विशुद्धतम परिणामवाले जीव को, सातिशय मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

प्रश्न 57- अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर का क्या अर्थ है ?

उत्तर - एक करोड़ सागर से ज्यादा तथा एक कोड़ाकोड़ी सागर से कम समय (काल) को, अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर कहते हैं।

प्रश्न 58- सम्यक्चारित्र की यथार्थता के लिए, क्या करें ?

उत्तर - '**तत्त्वज्ञान के बिना, महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होनेपर, कुछ भी व्रतादि नहीं हैं तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है; इसलिए पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय घटाने के लिए, बाह्यसाधन करना।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 238)

अर्थात् सम्यक्चारित्र की यथार्थता के लिए, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना।

प्रश्न 59- सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में, सच्चे धर्म की आम्नाय क्या है ?

उत्तर - '**सच्चे धर्म की आम्नाय तो यह है (कि) जितने अपने रागादि दूर हुए हों, उसके अनुसार जिस पद में, जो धर्मक्रियाएँ सम्भव हों, वे सब अंगीकार करें। यदि थोड़े रागादि मिटे हों, तो निचलेपद में ही प्रवर्तन करें; उच्चपद धारण करके, नीची क्रिया न करे।**' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 240, 242)

प्रश्न 60- क्या द्रव्यलिंगी, व्यवहाराभासी है ?

उत्तर - द्रव्यलिंगी, व्यवहाराभासी भी हो सकता है क्योंकि '**द्रव्यलिंगी के कदाचित् शुभकषाय करने का अभिप्राय पाया जा सकता है; श्रद्धान में उन्हें भला भी जान सकता है।**' यह व्यवहाराभासी का कथन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 247)

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि

प्रश्न 61- उभयाभासी, कौन है ?

उत्तर - जो व्यवहार-निश्चय, दोनों नयों के सच्चे स्वरूप को नहीं जानता, भ्रमसहित

दोनों का साधन साधता है, अभिप्राय में दोनों को समान होने का श्रद्धान करता है, वह उभयाभासी मिथ्यादृष्टि है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 248)

प्रश्न 62– उभयाभास कैसे दूर करें ?

उत्तर – निश्चयनय का निरूपण, सच्चा निरूपण है; व्यवहारनय का निरूपण, उपचार निरूपण है। वस्तुस्वरूप दो प्रकार का नहीं होता; उसका निरूपण दो प्रकार से है—ऐसा जानकर, निश्चय का आश्रय करे तो उभयाभास दूर हो।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 248-249)

प्रश्न 63– यदि तुम व्यवहार को असत्यार्थ-हेय कहते हो, तो हम, व्रतादि व्यवहारकार्य किसलिए करें; सबको छोड़ देंगे।

उत्तर – व्रतादि का नाम, व्यवहार नहीं है। वे तो द्रव्य के परिणमन हैं। उन्हें मोक्षमार्ग जानना, व्यवहार है। वह सम्यग्ज्ञानरूप श्रुतज्ञान का अंश है; अतः वह हेय नहीं है। उन्हें मोक्षमार्ग मानना, मिथ्यात्व है; उसे छोड़ दे और इस सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित अनुसार सही श्रद्धान करो। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 253)

प्रश्न 64– उभयाभासी मिथ्यादृष्टि की मान्यताओं को, तालिका द्वारा स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर –

क्र.	विपरीत मान्यता	आगमाधार	विपरीत क्यों	सही क्या	आगम की अपेक्षा
१.	निश्चयव्यवहार, दो प्रकार का मोक्षमार्ग मानना।	द्रव्यसंग्रह, गाथा ४७; समयसार, गाथा १५५, २७६, २७७; इत्यादि।	मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं; एक ही प्रकार का होने से।	मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; उनका निरूपण दो प्रकार से किया गया है।	मोक्षमार्ग अर्थात् वीतरागता को मोक्षमार्ग कहना/जानना, निश्चयमोक्षमार्ग; निमित्त-सहकारी होने से, तदनुकूल शरीरादि की क्रियाओं व शुभभावों को उपचार से, मोक्षमार्ग कहना/जानना, व्यवहार-मोक्षमार्ग।
२.	निश्चयव्यवहार, दोनों को एक-सा उपादेय मानना।	समयसार, गाथा १२ की टीका; पुरुषार्थसिद्धिचुपाय, पद्य ४, ८ इत्यादि।	दोनों का स्वरूप, परस्पर विरोध-सहित होने से।	निश्चय को, भूतार्थ; व्यवहार को, अभूतार्थ मानना।	पर से भिन्न, स्वयं से अभिन्न बताता होने से, निश्चयनिरूपण को, भूतार्थ; पर से अभिन्न, स्वयं में भिन्न बताता होने से, व्यवहारनिरूपण को, अभूतार्थ मानना।

३.	सिद्धसमान शुद्धात्मा का अनुभव, निश्चय; व्रतादिरूप प्रवृत्ति को, व्यवहार मानना।	नियमसार, गाथा ४७-४८; द्रव्यसंग्रह ३५, ४५; समयसार, गाथा १ की टीका आदि।	द्रव्य की किसी दशा का नाम, निश्चयव्यवहार नहीं होने से।	स्वरूपानुसार, द्रव्यदशा का निरूपण, निश्चय; उपचार-निरूपण को व्यवहार कहना / जानना।	शुद्धात्मा का अनुभव, वास्तव में मोक्षमार्ग है; अतः उसे मोक्षमार्ग कहना/जानना, निश्चय; शुभभावादि को उपचार से, मोक्षमार्ग कहना/ जानना, व्यवहार।
४.	श्रद्धान, निश्चय का रखना; प्रवृत्ति व्यवहाररूप करना - ऐसा मानना।	दर्शनपाहुड़, गाथा २२; नियमसार, गाथा १५४, इत्यादि।	एक ही नय के श्रद्धान से एकांत-मिथ्यात्व, और प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन नहीं होने से।	दोनों नयों को यथावत मानना; प्रवृत्ति को द्रव्य की दशा मानना; निरूपण में पूर्ववत नय-प्रयोग करना।	निश्चय से जो कहा, उसे 'ऐसा ही है'-ऐसा मानना; व्यवहार से जो कहा, उसे 'ऐसा है नहीं, किसी अपेक्षा ऐसा कहा है'-ऐसा मानना; स्वरूपानुसार प्रवृत्ति के निरूपण को निश्चय; कारणवश उपचार-निरूपण को व्यवहार कहना/जानना।
५.	आत्मा को, निश्चय से, सिद्धसमान; केवलज्ञानादि-सहित; द्रव्य-नोकर्म एवं भावकर्म से रहित; व्यवहार से, संसारी, मतिज्ञानादि, द्रव्य -नो एवं भावकर्म सहित-ऐसा दो प्रकार का मानना।	द्रव्यसंग्रह, गाथा ७ से १०; पंचास्तिकाय, गाथा २७ से ७३; प्रवचनसार, गाथा १४५ से १६२ इत्यादि।	आत्मा, जैसा है, वैसा होने से; ऐसा दो प्रकार का नहीं होने से।	आत्मा का निरूपण दो प्रकार से किया है। वास्तव में जिस भाव का सहितपना, उसी भाव का रहितपना; एक साथ किसी में भी सम्भव नहीं है।	जीवत्व की अपेक्षा, सिद्ध और संसारी को एकसमान कहा है; केवलज्ञान की अपेक्षा नहीं। सिद्ध के केवलज्ञान है; संसारी के, कर्म-निमित्तक मतिज्ञानादि हैं; केवलज्ञान, व्यक्त करने की शक्ति है। द्रव्यकर्म, नोकर्म से, दोनों रहित हैं परन्तु संसारी के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप, कारण-कार्य सम्बन्ध है। संसारी के भावकर्म वास्तव में है परन्तु कर्म-सापेक्ष होने से, व्यवहार से, कर्म-कृत कहे जाते हैं। सिद्धप्रभु, इन सभी से पूर्णतयारहित हैं।
६.	यथायोग्य व्रतादि क्रियाएँ करनेयोग्य तो हैं, परंतु उनमें ममत्व योग्य नहीं - ऐसा मानना।	समयसार, गाथा १४७, १७३ से १७८, १९३ से २००, इत्यादि	कर्तृत्व के साथ, नियम से ममत्व होने के कारण और कर्तृत्व के अभाव में, 'करनेयोग्य' मानने का अभाव होने के कारण।	शरीरादि परद्रव्य-सापेक्ष बाह्य व्रतादि में कर्तृत्व-ममत्व नहीं करना। ग्रहण -त्यागरूप व्रतादि शुभभाव स्वाश्रित हैं; अतः उनमें कर्तृत्व-ममत्व करना; उन्हें बन्ध का कारण मानना;	निचली दशा में, किन्हीं के शुभ-शुद्धोपयोग का युक्तपना होता है; अतः उपचार से व्रतादि शुभभावों को, मोक्षमार्ग कहा। वास्तव में वह बन्ध का कारण होने से, मोक्ष का घातक ही है-ऐसा मानना, परन्तु जब तक शुद्धोपयोग न हो, तब तक अशुभ छोड़, शुभ में प्रवर्तना, क्योंकि शुभ की अपेक्षा, अशुभ में, अशुद्धता अधिक है। अशुभ छूटकर,

				मोक्ष का कारण नहीं। एकमात्र उदासीन वीतरागमय शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग मानना।	शुभ और शुभ छूटकर, कदाचित् शुद्धोपयोग हो सकता है; अशुभ से सीधा शुद्धोपयोग कभी नहीं होता।
७.	आत्मा को शुद्ध माना, सम्यग्दर्शन; शुद्ध जाना, सम्यग्ज्ञान; ऐसे ही विचारों में प्रवर्तना, सम्यक्चारित्र —इस प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग; अरहन्तादि को ही देव मानना, जिनकथित जीवादि तत्त्वों को ही मानना, सम्यग्दर्शन; इन्हीं शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्तना, सम्यग्ज्ञान; व्रतादि क्रियाओं में प्रवर्तना, सम्यक्-चारित्र—इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग; इसरूप में, स्वयं को दोनों मोक्षमार्ग का साधक मानना।	व्यवहारसम्यग्दर्शन -नियमसार, गाथा ५; निश्चय-सम्यग्दर्शन नियमसार, गाथा १००; समयसार, गाथा १६, १५५ इत्यादि।	प्रत्यक्ष अशुद्ध को शुद्ध मानने, जानने, विचारने के विवेकरहित भ्रम से, सन्तुष्ट होने से तथा निश्चय-मोक्षमार्ग होनेपर ही, उपचाररूप व्यवहार घटित होने से।	सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा, निश्चय मोक्षमार्ग होनेपर, उसे ही मोक्षमार्ग कहना/जानना, निश्चयमोक्षमार्ग और निमित्त या सहचारी होने से, शुभभाव या तदनुकूल शरीरादि की क्रियाओं को उपचार से मोक्षमार्ग कहना/ जानना, व्यवहार-मोक्षमार्ग है-ऐसा मानना।	आज्ञानुसार, देखादेखी साधन नहीं करना। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के निर्देशन में जीवादि तत्त्वों का स्वरूप समझकर, स्व-पर भेद-विज्ञानपूर्वक आत्माराधना करने से, निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है; तब निरूपण में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग घटित होता है; अतः आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा, आत्म-रमणता का बुद्धिपूर्वक अभ्यास करना; उसके साधक स्वाध्यायादि में, विवेकपूर्वक यथायोग्य प्रवृत्ति करना; भ्रमित हो अपद में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

प्रश्न 65– उभयाभासी प्रकरण में आए, व्यवहारनय निरूपण की पद्धति को, स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – उभयाभासी मिथ्यादृष्टि के आधारपर, व्यवहारनय-प्ररूपण की पद्धति का विवरण—

क्र.	व्यवहार प्ररूपण	उदाहरण	ऐसे प्ररूपण की मजबूरी	ऐसा मानना मिथ्यात्व क्यों	इस सम्बन्ध में सही मान्यता क्या ?
१.	व्यवहारनय, स्वद्रव्य - परद्रव्य में से, किसी	पृथ्वीकाय जीव, नारकी जीव,	जीव, अमूर्तिक होने से, सीधा बताना, संभव नहीं है। संसार में शरीर के साथ,	वास्तव में जीव, चेतन; शरीर, अचेतन है। दोनों में, अत्यन्ताभाव है। एक	जीव के संयोग से, शरीर को उपचार से, जीव कहा। वास्तव में वह जीव नहीं है; पूर्णतया पुद्गल ही है; अतः उसे रंचमात्र

	को किसी में मिलाकर निरूपण करता है।	मनुष्य जीव, इत्यादि।	एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है; अतः उसके द्वारा जीव की पहिचान करानी पड़ी।	साथ रहनेपर भी, दोनों रंचमात्र भी, एक-दूसरेरूप नहीं होने से, शरीर को जीव मानना, मिथ्यात्व है।	भी जीव नहीं मानना। उसकी क्रिया को जीव की क्रिया नहीं मानना। उसके साथ एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि भाव नहीं करना, इत्यादि।
२.	द्रव्य के अनेक भावों में से, किसी को किसी में मिलाकर, कथन करता है।	जाननेवाला जीव, देखनेवाला जीव, इत्यादि।	जीव—ऐसा कहते रहनेपर भी, जीव समझ में नहीं आता है; अतः समझाने हेतु संज्ञा, संख्यादि भेद करके बताना पड़ा।	वास्तव में जीव, भेदरूप नहीं है; वरन् भेदाभेदात्मक अभेदरूप एक वस्तु है। ज्ञानादि को अलग-अलग कर पाना सम्भव नहीं। उनका परस्पर में, अतद्भाव है; प्रदेश, अभिन्न हैं; अतः मात्र भेदरूप ही मानना, मिथ्यात्व है।	अनन्त धर्मात्मक प्रत्येक वस्तु में, भेद-अभेद धर्म भी हैं। वे नामादि की अपेक्षा, भिन्न-भिन्न हैं परन्तु प्रदेशादि की अपेक्षा, अभिन्न हैं; अतः उन्हें इस अपेक्षा, अभिन्न ही मानना। उन्हें पर्याय में प्रकट करने के लिए, एक अभेद जीव का ही आश्रय लेना।
३.	स्वद्रव्य, परद्रव्य के साथ बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप कारण-कार्यादि में से, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है।	व्रत, शील, संयमादि को मोक्षमार्ग कहना इत्यादि।	वीतरागरूप निश्चयमोक्षमार्ग, सूक्ष्म, अमूर्तिकभाव होने से, इंद्रियगम्य नहीं है। इसकी निमित्तता में तत्त्वश्रद्धान-ज्ञान-पूर्वक परद्रव्यों के त्यागादिरूप व्रतादि, कथंचित् इंद्रियगोचर हैं; अतः इनके माध्यम से मोक्षमार्ग बताना पड़ा।	वास्तव में आत्मा, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें अत्यंताभाव है। आत्मा तो अपना आश्रय ले, अपने रागादि छोड़कर, वीतरागी होता है; अतः परद्रव्य के ग्रहण -त्यागरूप बाह्य -क्रियामय व्रतादि को, मोक्षमार्ग मानना मिथ्यात्व है।	वास्तव में कोई भी द्रव्य, किसी अन्य के अधीन नहीं है; उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। त्यागोपादन शून्यत्वशक्ति के कारण, वह किसी का ग्रहण-त्याग, करता भी नहीं है; अतः ऐसी क्रियाएँ सम्भव ही नहीं हैं। आत्मा तो स्वयं में स्थिर हो, वीतरागी होता है; यही मोक्षमार्ग, वास्तविक धर्म है। इसके और परद्रव्य के ग्रहण-त्यागरूप व्रतादि के, कदाचित् निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्धरूप कारण-कार्यपना है; अतः उन्हें भी उपचार से, मोक्षमार्ग कह दिया जाता है; वास्तव में वे मोक्षमार्ग नहीं हैं—ऐसा मानना।

सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि

प्रश्न 66- टोडरमलजी का 'सम्यक्त्व-सम्मुख-मिथ्यादृष्टि' से क्या आशय है ?

उत्तर - जो जीव, सम्यक्त्व के सम्मुख तो है परन्तु है अभी, मिथ्यादृष्टि।

'जिसे, मन्दकषायादि का निमित्त पाकर, ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ है, जिससे तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई है; जिसका मोह, मन्द हुआ है, जिससे तत्त्वविचार का उद्यम हुआ है; बाह्यनिमित्त देव-शास्त्र-गुरु मिले हैं, जिनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ है।'

'कभी आप ही विचार करता है; कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है, इत्यादिरूप प्रवर्तता है। ऐसे इस जानने के प्रयोजन से, इसे अपना कार्य करने का हर्ष बहुत है; इसलिए अन्तरंग प्रीति से, उसका साधन करता है।'

'इस प्रकार साधन करते हुए, जब तक—(1) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो, (2) 'यह इसी प्रकार है'—ऐसी प्रतीतिसहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आप को भासित न हो, (3) जैसी पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसी केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये तथा (4) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, तब तक सम्यक्त्व के सम्मुख, मिथ्यादृष्टि है।

यही जीव, थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा-इसी भव में या अन्य पर्याय में, सम्यक्त्व को पाएगा।'

पण्डितप्रवर टोडरमलजी का, 'सम्यक्त्व-सम्मुख मिथ्यादृष्टि' के विषय में, उक्त आशय है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 257-260)

पाँच लब्धियों का स्वरूप

प्रश्न 67- लब्धियों के वर्णन से क्या आशय है ?

उत्तर - लब्धियाँ, पाँच होती हैं—(1) क्षयोपशम, (2) विशुद्धि, (3) देशना,

(4) प्रायोग्य और (5) करण। ये पाँच लब्धियाँ, सम्यग्दर्शन से पूर्व अवश्य होती हैं।

पूर्व की चार लब्धियाँ होनेपर, सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है क्योंकि ये चारों लब्धियाँ, भव्य या अभव्य को भी हो सकतीं हैं। पाँचवीं करणलब्धि होनेपर, सम्यक्त्व होता ही होता है। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसको सम्यक्त्व होना होता है, उसी जीव को करणलब्धि होती है।

करणलब्धिवाला, तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाता है, उससे उसके प्रतिसमय परिणाम निर्मल होते हैं। वहाँ **अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण**—ये तीन करण होते हैं तथा **अनिवृत्तिकरण** के अन्त में, प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

उक्त प्रक्रिया को बताना ही, लब्धियों के वर्णन का आशय है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 261-264)

प्रश्न 68- पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार, इस अध्याय की अन्तिम शिक्षा क्या है ?

उत्तर - 'अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना, योग्य है। सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना, योग्य है क्योंकि संसार का मूल, मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व के समान, अन्य पाप नहीं है।

अतः जिस-तिस उपाय से, सर्व प्रकार के मिथ्यात्व का नाश करना, योग्य है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ-267)

—००—

आठवाँ अधिकार
उपदेश का स्वरूप

विषयवस्तु

प्रश्न 1- इस अधिकार में मङ्गलाचरण क्यों नहीं किया गया है ?

उत्तर - सातवें और आठवें अधिकार के समापन वाक्य के कोष्ठक से ऐसा लगता है कि इस सन्दर्भ में पण्डितजी पुन: विचार करना चाहते थे; अत: मङ्गलाचरण नहीं किया है।

प्रश्न 2- इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है ?

उत्तर - इस अधिकार में, उपदेश के स्वरूप का, छह प्रकार से वर्णन किया है। यथा— (1) अनुयोगों का प्रयोजन, (2) अनुयोगों के व्याख्यान का विधान, (3) अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति, (4) अनुयोगों में दोषकल्पनाओं का निराकरण, (5) अनुयोगों में दिखाई देनेवाले, परस्पर विरोध का निराकरण तथा (6) अनुयोगों का अभ्यासक्रम।

प्रश्न 3- उपदेश का क्या अर्थ है ?

उत्तर - जीवों को धर्म में लगाने के लिए, तीर्थंकरादि, (सामान्य केवली, आचार्य, उपाध्याय, साधु व परम्परा से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक व अविरति सम्यक् दृष्टि) के द्वारा दिए गए ज्ञान को, उपदेश कहते हैं।

प्रश्न 4- वह उपदेश, किस प्रकार दिया है ?

उत्तर - जिनमत में चार अनुयोगों के द्वारा उपदेश दिया गया है, यथा —

(1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग, (3) चरणानुयोग, (4) द्रव्यानुयोग।

इन अनुयोगों में द्वादशांग का सम्पूर्ण विषय (ज्ञान) समाहित हो जाता है; कोई विषय शेष नहीं रहता है।

अनुयोगों का प्रयोजन

प्रश्न 5- अनुयोग किसे कहते हैं?

उत्तर - जीव को धर्म में लगाने के प्रयोजन से, उपदेश की शैली, पद्धति या प्रकार को अनुयोग कहा जाता है।

प्रश्न 6- प्रथमानुयोग में, 'प्रथम' शब्द का क्या अर्थ और प्रयोजन है?

उत्तर - प्रथमानुयोग में, प्रथम शब्द का अर्थ, अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि है।

अव्युत्पन्न अर्थात् वे जीव, जो किसी भी विषय (तीन अनुयोग) को ग्रहण करने में कुशल नहीं हों। ऐसे **अकुशल धर्मार्थी जीवों को, अव्युत्पन्न कहते हैं।**

धर्म के विषय में जिनकी बुद्धि तुच्छ है, उन्हें महन्त पुरुषों की कथाओं के द्वारा, पाप से छुड़ाकर, धर्म में उत्साहित कर, धर्म में लगाते हैं। यही इस अनुयोग का प्रयोजन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 269)

प्रश्न 7- करणानुयोग का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - करणानुयोग में जो जीव, धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं, उन्हें, जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादि की रचना निरूपित करके, धर्म में लगाते हैं - यही इस अनुयोग का प्रयोजन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 269)

प्रश्न 8- चरणानुयोग का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - चरणानुयोग में, नाना प्रकार से धर्म के साधन निरूपित करके, जीवों को, धर्म में लगाते हैं—यही इस अनुयोग का प्रयोजन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 270)

प्रश्न 9- द्रव्यानुयोग का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - द्रव्यानुयोग में, द्रव्यों का और तत्त्वों का निरूपण करके, जीवों को, धर्म में लगाते हैं - यही इस अनुयोग का प्रयोजन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 271)

अनुयोगों का व्याख्यान विधान

प्रश्न 10– तत्त्वज्ञानी जीवों को अनुयोगों का अभ्यास, कैसा भासित होता है ?

उत्तर – तत्त्वज्ञानी जीवों को, प्रथमानुयोग का अभ्यास, तत्त्वज्ञान के उदाहरणरूप भासित होता है। करणानुयोग का अभ्यास, तत्त्वज्ञान के विशेषणरूप भासित होता है। चरणानुयोग का अभ्यास, अपने वीतरागभाव के अनुसार भासित होता है और द्रव्यानुयोग का अभ्यास, अपने श्रद्धान के अनुसार भासित होता है।

(पृष्ठ 269–270–271)

प्रश्न 11– 'श्रावक' संज्ञा किस जैनधर्मी को मिलती है ?

उत्तर – 'श्रावक' शब्द का अर्थ, पण्डितजी के अनुसार, इस प्रकार है—

'कोई भला आचरण होनेपर, **सम्यक्चारित्र** हुआ कहते हैं; वहाँ जिसने जैनधर्म अंगीकार किया हो व कोई छोटी–मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे **श्रावक** कहते हैं। वास्तव में तो श्रावक, पंचम गुणस्थानवर्ती होनेपर होता है परन्तु पूर्ववत् उपचार से, इसे श्रावक कहा है।

उत्तरपुराण में, श्रेणिक को, श्रावकोत्तम कहा है; वहाँ वह तो असंयत था परन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि, तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध करनेवाला, भाव जैन / एक देश जिन था; इसलिए कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 273)

प्रश्न 12– क्या सम्यग्दर्शन के पूर्व, मुनिदीक्षा सम्भव है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन के पूर्व, मुनिदीक्षा अंगीकार करने से, शिथिलाचार के अवसर हो सकते हैं; अत: इस सम्बन्ध में राजमार्ग इस प्रकार है—

'मुनिपद लेने का क्रम तो यह है, पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं; परिषहादि सहने की शक्ति होती है; तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु, मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।'

उपर्युक्त सत्य को स्वीकारते हुए, सर्वोपकारी जिनशासन की उदारदृष्टि के पात्र कुछ मन्दबुद्धि जीव भी होते हैं। उन जीवों को निम्न क्रम से मुनिदीक्षा देने का प्रावधान है—

'सम्यक्चारित्र के अर्थ, रागादि दूर करने का उपदेश देते हैं, वहाँ एकदेश व सर्वदेश तीव्र रागादि का अभाव होनेपर, उनके निमित्त से जो एकदेश व सर्वदेश पापक्रिया होती थी, वह छूटती है तथा मन्दराग से, श्रावक अथवा मुनि के व्रतों की प्रवृत्ति होती है और मन्दराग का भी, अभाव होनेपर, शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है, उसका निरूपण करते हैं।'

वहाँ यथार्थ श्रद्धानसहित सम्यग्दृष्टियों के, जैसे कोई यथार्थ आखड़ी (प्रतिज्ञा) होती है या भक्ति होती है या पूजा-प्रभावनादि कार्य होते हैं या ध्यानादि होते हैं, उनका उपदेश देते हैं।

जिनमत में, जैसा सच्चा परम्परामार्ग है, वैसा उपदेश देते हैं।

इस प्रकार सभी अपेक्षाओं का समन्वय करके, जिनशासन की सर्वोदयता का बहुमान करें। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 179/279)

प्रश्न 13- अरहन्तादि को परमेष्ठी कहना, किस अनुयोग का विषय है?

उत्तर - किसी परद्रव्य को, इष्ट-अनिष्ट कहना, चरणानुयोग की ही शैली है।

अरहन्तादि को इष्ट (परमेष्ठी) कहने का प्रयोजन, अरहन्तादि के प्रति, थोड़ा राग उत्पन्न कराके, विषय-भोगरूप तीव्र राग को छुड़ाना है। इस प्रकार अरहन्तादि को परमेष्ठी कहना, चरणानुयोग का विषय माना जाएगा।

प्रश्न 14- क्या लौकिकप्रयोजन के लिए, देव आदि की पूजा-भक्ति उचित है?

उत्तर - पण्डितप्रवर टोडरमलजी के अनुसार—**'नामस्मरण, स्तुतिकरण, पूजा, दान, शीलादि से, इसलोक में दारिद्र्य आदि दूर होते हैं; पुत्र-धनादि की प्राप्ति होती है, इस प्रकार निरूपण द्वारा, उनके लोभ उत्पन्न करके, उन्हें धर्म कार्यों में लगाते हैं।'**

इससे पूर्व 'प्रथमानुयोग के व्याख्यान का विधान' के अन्तर्गत, पण्डितजी कहते हैं—**'कितने ही पुरुषों ने पुत्रादि की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोग -कष्टादि दूर करने के अर्थ, चैत्यालय-पूजनादि कार्य किए; स्तोत्र पढ़े; नमस्कारमन्त्र स्मरण किया, परन्तु ऐसा करने से तो निःकांक्षितगुण का अभाव होता है, निदानबन्ध नामक आर्तध्यान होता है; पाप ही का प्रयोजन**

अन्तरंग में है; इसलिए पाप ही का बन्ध होता है परन्तु मोहित होकर भी, बहुत पापबन्ध के कारण, कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके, उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिककार्यों के अर्थ, धर्मसाधन करना युक्त नहीं है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 274/280)

प्रश्न 15- अणुव्रती को, किस प्रकार के त्रसघात का त्याग कहा है?

उत्तर - '**अणुव्रती को त्रसहिंसा का त्याग** कहा है परन्तु उसको स्त्रीसेवनादि क्रियाओं में त्रसहिंसा होती है। वह यह भी जानता है कि जिनवाणी में यहाँ त्रस कहे हैं परन्तु उसको त्रस मारने का अभिप्राय नहीं है; अत: लोक में जिसका नाम, त्रसघात है, उसे नहीं करता है; इसलिए उस अपेक्षा, उसको त्रसहिंसा का त्याग है।'

हिंसा चार प्रकार की कही है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी। इन चारों स्तर के त्रसघात में से, अणुव्रती, त्रस की संकल्पीहिंसा नहीं करता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 282)

रत्नकरण्डश्रावकाचार में उल्लेख है कि, '**अणुव्रती, त्रस की संकल्पी हिंसा का मन-वचन-काय से त्यागी हुआ है और यही अहिंसाणुव्रत है।'** (र.क.श्रा., श्लोक 53)

प्रश्न 16- बारहवें गुणस्थान में, असत्यवचनयोग का सद्भाव कैसे पाया जाता है?

उत्तर - असत्यता का कारण, राग-द्वेष के साथ-साथ अज्ञान भी है। बारहवें गुणस्थान तक, औदयिक-अज्ञान बताया गया है। इस कारण से, बारहवें गुणस्थान तक, असत्यवचनयोग, असत्यमनोयोग आदि का सद्भाव कहा गया है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 282)

अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति

प्रश्न 17- अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति से, क्या आशय है?

उत्तर - किस अनुयोग में, किसकी मुख्यता है, उस मुख्यता का क्या कारण है—इसे

बताने को, अनुयोगों के व्याख्यान की पद्धति कहते हैं।

जैसे–**प्रथमानुयोग** में, अलंकारशास्त्र व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति की मुख्यता है, जिससे मन रंजायमान होकर, वहाँ उपयोग लगे।

करणानुयोग में, गणित आदि शास्त्रों की पद्धति की मुख्यता है क्योंकि वहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रमाण (परिमाण) आदि का निरूपण है।

चरणानुयोग में, सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति की मुख्यता है क्योंकि नीतिमार्ग बतलानेपर जीव, सम्यक् आचरण करता है।

द्रव्यानुयोग में, न्यायशास्त्रों की पद्धति की मुख्यता है क्योंकि वहाँ निर्णय कराने का प्रयोजन है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 286-287)

प्रश्न 18- चारों अनुयोगों में, प्रतिपादित मनुष्य-सम्यग्दृष्टियों की संख्या का तारतम्य स्पष्ट करें?

उत्तर - **प्रथमानुयोग** के विषयभूत मनुष्य-सम्यग्दृष्टियों की संख्या, सर्वाधिक होती है क्योंकि यह स्थूलतम अनुयोग होने से, नि:शंकितादि अंग के पालन को भी, प्रथमानुयोग, **सम्यग्दृष्टि** स्वीकार लेता है।

चरणानुयोग, अष्टांग के पालक, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धानमात्र को, **सम्यग्दृष्टि** कहता है; अत: इनके श्रद्धानी, संख्या में अधिक पाए जाते हैं।

इसमें से विरले ही होते हैं, जो तत्त्वार्थश्रद्धान या आपा-पर के श्रद्धान तक पहुँच पाते हैं; अत: **द्रव्यानुयोग** के विषयभूत मनुष्य-सम्यग्दृष्टियों की संख्या, अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। इतना अवश्य है कि जो-जो द्रव्यानुयोग के अनुसार **सम्यग्दृष्टि** हैं, वे सभी, चरणानुयोग के अनुसार, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धावान होते ही हैं।

करणानुयोग के विषयभूत सम्यग्दृष्टि, सात (अनन्तानुबन्धी चतुष्क एवं दर्शन-मोहसम्बन्धी तीन) प्रकृतियों के निरोधवाले होते हैं। वे द्रव्यानुयोग के विषयभूत सम्यग्दृष्टियों से भी संख्या में **अत्यन्त विरल** हैं। करणानुयोग के सम्यग्दृष्टियों को, शेष अनुयोगों के सम्यग्दृष्टि होने का नियम है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 273, 279, 285, 286)

प्रश्न 19- पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने व्याकरण, न्यायादि शास्त्रों के अध्ययन का क्या प्रयोजन बताया है?

उत्तर - पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने बताया है कि—अनुयोगरूप शास्त्रों का अभ्यास, व्याकरण, न्यायादि का अभ्यास होनेपर हो सकता है, सो अपनी बुद्धि के अनुसार, थोड़ा -बहुत इनका अभ्यास करके, अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना।

क्योंकि व्याकरण-न्यायादि द्वारा, जैसा यथार्थ सूक्ष्म अर्थ का निरूपण होता है, वैसा सीधी भाषा में नहीं हो सकता; इसलिए व्याकरणादि की आम्नाय से वर्णन किया है।

इन (व्याकरण-न्यायादि) का प्रयोजन तो इतना ही है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके, पश्चात् आत्महित के साधक शास्त्रों का अभ्यास करना। उनके अभ्यास के बिना, महान ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है; इसलिए इनका भी, अभ्यास करना योग्य है।

व्याकरण के बिना, शब्द का अर्थ, यथावत् भासित नहीं होता; न्याय के बिना, लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते, इत्यादि। वचन द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय, व्याकरणादि बिना, भलीभाँति न होता जानकर, उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है।

इनका बन सके उतना, थोड़ा-बहुत अभ्यास करके, आत्महित के अर्थ जो तत्त्वादि का निर्णय करते हैं, उन्हीं को धर्मात्मा-पण्डित जानना।

'जो जीव, शब्दों की नाना युक्तियोंसहित अर्थ करने के लिए ही, व्याकरण का अवगाहन करते हैं; वादादि करके महन्त होने के लिए, न्याय का अवगाहन करते हैं और चतुराई प्रकट करने के लिए, काव्य का अवगाहन करते हैं, इत्यादि, लौकिकप्रयोजनसहित इनका अभ्यास करते हैं, वे धर्मात्मा नहीं हैं।'

'यदि बुद्धि थोड़ी हो तो (मात्र) आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों का ही अभ्यास करें। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादि का ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति न बने।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 235/236)

अनुयोगों में दोष कल्पनाओं का निराकरण

प्रश्न 20- अनुयोगों में दोषों की कल्पना, किस प्रकार से की जाती है और उसका निराकरण कैसे किया है ?

उत्तर - अज्ञानी जीव, ऐसा मानता है कि, प्रथमानुयोग में शृंगार, संग्रामादि के वर्णन पढ़ने से, रागादि बढ़ते हैं। करणानुयोग में गुणस्थान, कर्मप्रकृति, त्रिलोक आदि का स्वरूप जानने से, अपना क्या प्रयोजन सिद्ध होगा; भक्ति आदि करने से अपना भला है। चरणानुयोग में बताए व्रतादि के साधन से क्या होगा; अपने परिणाम निर्मल होने चाहिए। द्रव्यानुयोग में व्रत, संयम को हीन बताया है; इसलिए इसे पढ़ने से स्वच्छन्दता होती है।

इस प्रकार वे, चारों अनुयोगों में दोषों की कल्पना करते हैं।

उन दोषों का निराकरण, इस प्रकार किया है कि—प्रथमानुयोग में, शृंगार-संग्रामादि का त्याग करके, मुनि बने—ऐसा अतिशय प्रकट करने के लिए, शृंगार-संग्रामादि का कथन बढ़ा-चढ़ाकर किया; इसलिए वह दोष नहीं है।

करणानुयोग के अध्ययन में, दोष उद्भावक (लगानेवाले) से कहते हैं कि करणानुयोग के अध्ययन में लगने से भी, कषाय अधिक मन्द होती है, उससे अन्तरंग साधन की निमित्तता बनती है; इसलिए करणानुयोग के अध्ययन में, दोष नहीं है।

चरणानुयोग में दोष देखनेवाले से कहते हैं कि "यह नियम है कि बाह्य संयमसाधन बिना, परिणाम निर्मल नहीं हो सकते; इसलिए चरणानुयोग का साधन और अध्ययन, दोषयुक्त नहीं है।"

द्रव्यानुयोग में स्वच्छन्दता का दोष देखनेवाले से कहते हैं कि, द्रव्यानुयोग में, मोक्षमार्ग का मूल उपदेश है; उसके बिना, मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 232)

तत्त्वज्ञान के कारण, अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं। (पृष्ठ 237)

वहाँ व्रतादि की हीनता और शुद्धदशा की प्राप्ति का हेतु है। स्वच्छन्दता या व्रतादि त्याग कराने का हेतु नहीं है; इसलिए उसमें स्वच्छन्दता का दोष नहीं है।

अनुयोगों में परस्पर विरोध का निराकरण

प्रश्न 21- प्रमाद का सद्भाव, छठवें गुणस्थान तक और कषाय का सद्भाव, दसवें गुणस्थान तक कहा है—इन दोनों कथनों में आये परस्पर विरोध का कारण बताएँ ?

उत्तर - करणानुयोग में प्रमाद का, सातवें गुणस्थान में अभाव कहा है; वहीं, कषायादि प्रमाद के भेद कहे, जबकि वहाँ ही कषायादि का सद्भाव, दसवें गुणस्थान-पर्यन्त कहा; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि यहाँ प्रमादों में जो शुभाशुभभावों के अभिप्रायसहित कषाय आदि होते हैं, उनका ग्रहण है। सातवें गुणस्थान में ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है; इसलिए उनका वहाँ अभाव कहा है तथा सूक्ष्म आदि भावों की अपेक्षा, उन्हीं का दसवें गुणस्थानपर्यन्त सद्भाव कहा है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 295)

प्रश्न 22- सप्त व्यसन का त्याग, कौन-सी भूमिका (गुणस्थान) में होता है ?

उत्तर - सप्त व्यसन के त्याग के सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी का विचार इस प्रकार है—

'**चरणानुयोग** में, चोरी-परस्त्री आदि सप्त व्यसन का त्याग, पहली प्रतिमा में कहा है तथा वहाँ ही उनका त्याग, दूसरी प्रतिमा में कहा है; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि सप्त व्यसन में तो चोरी आदि कार्य ऐसे ग्रहण किए हैं, जिनसे दण्डादि पाता है, लोक में अति निन्दा होती है तथा व्रतों में ऐसे चोरी आदि त्याग करनेयोग्य कहे हैं, जो गृहस्थधर्म से विरुद्ध होते हैं व किंचित् लोकनिंद्य होते हैं—ऐसा अर्थ जानना। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।'

कई आचार्यों ने, सप्त व्यसन का त्याग, चतुर्थ गुणस्थान में अथवा प्रथम

गुणस्थान की विशुद्धिलब्धि में कहा है। यह त्याग, सातिचाररूप होता है। सूक्ष्मरूप से विचारें तो चतुर्थ गुणस्थान तक, सप्त व्यसनसम्बन्धी कुछ अतिचार लगते रहना सम्भव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 295)

प्रश्न 23- जीव में, सूक्ष्म-बादर का व्यवहार, प्रमाण (अवगाहना) की तरफ से करने में क्या आपत्ति है?

उत्तर - जीव में, सूक्ष्म-बादर का व्यवहार, उनके सूक्ष्म-बादर नामकर्म के उदय से होता है; उनकी अवगाहना से नहीं। छोटी अवगाहना से युक्त जीव, बादर होना तथा बड़ी अवगाहना से युक्त जीव, सूक्ष्म होना भी सम्भव है। बड़ी अवगाहनावाला जीव, दूसरों से अड़े-अड़ाए, यह जरूरी नहीं; अत: वह सूक्ष्म भी हो सकता है और छोटी अवगाहनावाला जीव, अड़ भी सकता है और अड़ा भी सकता है; अत: वह छोटी अवगाहनावाला जीव, बादर भी हो सकता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 296)

प्रश्न 24- कितने प्रकार के प्रत्यक्षप्रमाण होते हैं?

उत्तर - लोकव्यवहार में, इन्द्रिय द्वारा जानने का नाम, प्रत्यक्ष है। यह **सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष** कहलाता है। यह कथन की न्यायशैली मानी जाती है।

प्रमाणभेदों में स्पष्ट प्रतिभास का नाम, प्रत्यक्ष है। यह **पारमार्थिकप्रत्यक्ष** है। यह सैद्धान्तिक शैली है। अवधि तथा मन:पर्ययज्ञान, एकदेश प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान, पूर्ण प्रत्यक्ष है।

आत्मानुभवनादि में अपने स्वभाव में स्थित हो, उसका नाम प्रत्यक्ष है। यह **स्वसंवेदनप्रत्यक्ष (अनुभवप्रत्यक्ष)** है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 296)

प्रश्न 25- देवों के उदीरणा होती है या नहीं?

उत्तर - (1) कुछ अपवादों को छोड़कर, प्रत्येक जीव के, छठवें गुणस्थान तक, जिन कर्मप्रकृतियों का उदय होता है; उनके साथ उन्हीं कर्मों की उदीरणा भी अवश्य होती है। यह उदीरणा, तप आदि से नहीं, वरन् स्वभाव से ही होती है। नारकी और देवों की नरकायु और देवायु के उदीरणा, मरण से एक आवली पूर्व तक होती रहती है।

(2) उदीरणा का एक अर्थ यह भी है कि जो निषेक, अभी तक नहीं खिर

रहे थे, वे मरण के एक अन्तर्मुहूर्त पूर्व, खिर जाते हैं। इसे अकालमरण (कदलीघात) भी कहा जाता है। ऐसा अकालमरण (उदीरणा), देवों, नारकियों आदि में नहीं होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 296)

प्रश्न 26- क्या परद्रव्य भी, हेय-उपादेय होता है?

उत्तर - मन्दबुद्धि जीवों को, चरणानुयोग की शैली में, परद्रव्यों में हेय-उपादेयता बतायी जाती है।

(द्रव्यानुयोग) अध्यात्मशैली में, हमारे (विकारी) भावों में, हेयता तथा हमारे (अविकारी) शुद्धभावों में, उपादेयता बतायी जाती है।

परमाध्यात्म की चरम सीमा में पहुँचनेपर, एक ज्ञायक के अनुभवनमात्र का उपदेश दिया जाता है क्योंकि ऐसी अनुभूति के फलस्वरूप, हटनेयोग्य, सहज हटता है और प्रकट होनेयोग्य, सहज प्रकट होता है।

प्रश्न 27- जीव को, जीवत्व किस अपेक्षा से कहा है?

उत्तर - व्यवहारनय की अपेक्षा से, दस प्राणों को धारण करे उसका नाम, जीव है। निश्चय की अपेक्षा, चैतन्यप्राण को धारण करे वह जीव है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 297)

प्रश्न 28- क्या अनुयोगों में परस्पर विरोध है?

उत्तर - अनुयोगों में परस्पर में कोई विरोध नहीं है; उनमें जो वर्णन की भिन्नता है, वह कथन की स्थूलता, सूक्ष्मता से या प्रयोजन की भिन्नता या अपेक्षा की भिन्नता के कारण से है या कालदोष से तुच्छ बुद्धियों की भूल से है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 294-303)

अनुयोगों का अभ्यास क्रम

प्रश्न 29- अनुयोगों के इस क्रम का क्या उद्देश्य है?

उत्तर - **प्रथमानुयोग** से, जीव में धर्म की रुचि उत्पन्न करते हैं। **करणानुयोग** से, कर्मपद्धति और भूगोल का ज्ञान कराकर, जीव को धर्म में दृढ़ करते हैं। **चरणानुयोग** से, कषाय की मन्दता कराते हैं। **द्रव्यानुयोग** से, स्व-पर का

भेदज्ञान कराकर, आत्मस्वरूप के अनुभवनरूप शुद्धोपयोग हेतु प्रेरित करते हैं।

रुचि, दृढ़ता और कषाय की मन्दतापूर्वक ही, जीव को अनुभवन होता है; इसलिए अनुयोगों का यही क्रम जानना।

प्रश्न 30– क्या अनुयोगों का अभ्यास, इसी क्रम से करें?

उत्तर – पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना—ऐसा नियम नहीं है परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर, जिसके अभ्यास से, अपनी धर्म में प्रवृत्ति हो, उसी का अभ्यास करना। अथवा कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे, कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 304)

प्रश्न 31– जिनधर्म की परिपाटी क्या है?

उत्तर – **जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व, स्व-पर का श्रद्धान होनेपर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करनेपर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके, सम्यग्दृष्टि हों, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण करके, व्रती हों।** इस प्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जानें, उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊँची दशावालों को, अध्यात्म अभ्यास योग्य है—ऐसा जानकर, निचली दशावालों को, वहाँ से पराङ्मुख होना, योग्य नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 293)

प्रश्न 32– पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने इस अध्याय के अन्त में क्या शिक्षा दी है?

उत्तर – **मोक्षमार्ग में पहला उपाय, 'आगमज्ञान' कहा है; आगमज्ञान बिना, धर्म का साधन, अन्य नहीं हो सकता; इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि करके, आगम का अभ्यास करना चाहिए। तुम्हारा कल्याण होगा !**

—oo—

नौवाँ अधिकार
मोक्षमार्ग का स्वरूप

॥ ॐ नमः ॥

शिव-उपाय करतैं प्रथम, कारन मंगलरूप।
विघन विनाशक सुख करन, नमौं शुद्ध शिवभूप॥

मङ्गलाचरण एवं विषयवस्तु

प्रश्न 1– इस अधिकार के मङ्गलाचरण का क्या अर्थ है ?

उत्तर – शिव-उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग के स्वरूप का वर्णन करने में, प्रथमतः जो मंगलस्वरूप हैं, विघ्नों के विनाशक तथा सुख करनेवाले-ऐसे शुद्ध शिवराजा / सिद्ध भगवान को नमन करता हूँ।

प्रश्न 2– इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है ?

उत्तर – आत्मा का हित, मोक्ष ही है; वह, पाँच समवायों में से, पुरुषार्थ की प्रधानता द्वारा प्राप्त होता है तथा उसका उपाय, सम्यग्दर्शनादि हैं। सम्यग्दर्शन का दोषरहित लक्षण, तत्त्वार्थश्रद्धान है; इसी लक्षण में, अन्य लक्षणों का समन्वय होता है। निश्चय-व्यवहारादि अनेक अपेक्षाओं से, सम्यक्त्व के भेद तथा उसके अंग व दोषों का वर्णन है। इसमें सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों की, मात्र गणना है।

प्रश्न 3– क्या मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ, पूर्ण रचा गया ?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ, अपूर्ण है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी, इसका अन्तिम वाक्य, मात्र 'बहु.....' इतना ही लिख पाए।

अध्याय के आरम्भ में 'अथ मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं'-यह कहकर,

वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया था। सम्यग्दर्शनादि शब्द से स्पष्ट है कि वे, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का वर्णन करनेवाले थे परन्तु सम्यग्दर्शन का वर्णन भी पूर्ण नहीं कर पाए। इसके बावजूद, आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी के द्वारा जितना भी लिखा गया, वह हमारे प्रयोजन की प्राप्ति के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि से इसे अपूर्ण होते हुए भी, अपूर्व-हितकर एवं 'पूर्ण' भी कहा जा सकता है।

आत्मा का हित

प्रश्न 4- आत्मा का हित, मोक्ष ही क्यों है?

उत्तर - संसार का प्रत्येक जीव, सुख चाहता है। जीव, अन्य अवस्थाओं को तो सह सकता है; एक दु:ख को ही नहीं सह सकता। दु:ख, आकुलता लक्षणवाला है। आकुलता के सहकारीकारण, ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय है। इनका अभाव हो, तब जीव, पूर्ण निराकुल अर्थात् पूर्ण सुखी हो, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव ही, मोक्ष है; अत: **आत्मा का हित, मोक्ष ही है।**

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 306-307)

प्रश्न 5- आत्मा का हित, मोक्ष ही है, इस वाक्य में, अनेकान्त व एकान्त, किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर - '**आत्मा का हित, मोक्ष ही है**'—यह **सम्यक्-एकान्त** का वाक्य है। आत्मा का हित, मोक्ष ही है; अन्य नहीं—यह **सम्यक्-अनेकान्त** का वाक्य है। आत्मा का हित, विषयों की प्राप्ति में ही है — यह **मिथ्या-एकान्त** का वाक्य है। आत्मा का हित, मोक्ष भी है—यह **मिथ्या-अनेकान्त** का वाक्य है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 304)

प्रश्न 6- संसार में, पुण्यकर्म के उदय में भी सुख है; तब मोक्ष में ही सुख है—ऐसा क्यों कहा?

उत्तर - संसार में, पुण्यकर्म के उदय में सुख दिखता है; होता नहीं। जैसे-मृगमरीचिका में जल दिखता है परन्तु होता नहीं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 307-308-309)

यह बात छहढाला में पण्डित दौलतरामजी ने तीसरी ढाल के प्रथम छन्द में इस प्रकार कही है—

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न तातैं, शिव-मग लाग्यौ चहिये॥

प्रश्न 7- मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर - अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से ही, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न 8- मोक्षप्राप्ति, कार्य है; कार्य सिद्ध होने में, पंच समवाय कहे हैं; मात्र पुरुषार्थ से ही मोक्ष क्यों कहा?

उत्तर - 'काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं हैं; जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि और जो कार्य हुआ, वही होनहार। जो कर्म के उपशमादि हैं, वे पुद्गल की शक्ति है; उसका आत्मा, कर्ता-हर्ता नहीं है।

तथा जो पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं-यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को, पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।'

अर्थात् **स्वभाव** (योग्यतागत त्रिकाली-उपादान, जीव का), **भवितव्यता** (व्यक्त परिणतिगत क्षणिक-उपादान, जीव का), **काललब्धि** (जीव की उस पर्याय की प्रकटता का स्वकाल), **उपशमादि** (कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य का परिणमन) तथा **पुरुषार्थ** (जीव की वीर्यगुणगत परिणति)—इनमें पुरुषार्थ, इंजन की तरह तथा शेष चार, पीछे चलनेवाले डिब्बों की तरह हैं।

'वहाँ यह आत्मा, जिस (पुरुषार्थरूप) कारण से कार्यसिद्धि अवश्य होती हो, उस (पुरुषार्थ) कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की सिद्धि भी होती ही होती है।' (मो.मा.प्र., पृष्ठ 309)

इसलिए पुरुषार्थ को ही, मोक्ष सिद्धि का उपाय बताया है।

प्रश्न 9- जिनागम में, कितने व कौन से समवाय बताए हैं?

उत्तर - एक कार्य के होने में, अनेक कारण चाहिए। जिनमें से पाँच का नियम कहा

जाता है; वे इस प्रकार हैं—**स्वभाव, काललब्धि, होनहार, निमित्त** और **पुरुषार्थ** अर्थात् जब भी कोई कार्य होगा, तब ये पाँचों समवाय, नियमपूर्वक होते ही हैं।

न्याय के ग्रन्थ **सम्मइसुत्तं** में, **आचार्यश्री सिद्धसेन** ने कहा है—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥53॥

अर्थ—काललब्धि, स्वभाव, नियति (भवितव्यता / होनहार), पूर्वकृत (कर्म) / निमित्त तथा पुरुषार्थ—इन पाँच कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा माननेवाले ही सम्यग्दृष्टि हैं तथा कार्य के होने में किसी एक समवाय का ही एकान्त करनेवाले जीव, मिथ्यादृष्टि हैं।

'कार्य कब होगा?' यह **काललब्धि** बताती है। 'कार्य किसमें होगा?' यह **स्वभाव** बताता है। 'कौनसा कार्य होगा?' यह **होनहार** बताती है। 'किसपूर्वक कार्य होगा' अथवा 'क्या करने से कार्य होगा?' यह **पुरुषार्थ** बताता है तथा 'किसके सान्निध्य में कार्य होगा?' यह **निमित्त** बताता है।

प्रश्न 10- पाँचों समवायों में 'स्वद्रव्य-परद्रव्य'–ऐसा विभाग कैसे होगा?

उत्तर - पाँच समवायों में स्वभाव, काललब्धि, होनहार तथा पुरुषार्थ, उपादान (स्वद्रव्य) रूप होते हैं तथा निमित्तसमवाय, परद्रव्यरूप होता है।

प्रश्न 11- 'काललब्धि तथा होनहार तो कोई वस्तु नहीं है'—इसका क्या आशय है?

उत्तर - जिस समय में कार्य होता है, वह काललब्धि है और जो कार्य हुआ, वह होनहार है। पुरुषार्थी के ये समवाय हर समय तैयार ही रहते हैं। यथार्थ पुरुषार्थ के होनेपर, इनकी उपस्थिति स्वयमेव होती है; उनको लाने के लिए कोई उद्यम करना सम्भव नहीं है; अत: उन्हें '**कोई वस्तु नहीं है**'–ऐसी संज्ञा दी गयी है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 309)

प्रश्न 12- सम्यग्दर्शनरूप कार्य में, समवायादि सभी कारण कैसे घटित होते हैं ?

उत्तर -

कारण (विवक्षाएँ)

समवाय	**निमित्त/ उपादान**	**षट्कारक कारण**	**सम्यग्दर्शन कार्य का कारण**
स्वभाव	त्रिकाली उपादान	अधिकरण, कर्ता	जीव का त्रिकालस्वभाव (सम्यग्दर्शन स्वभाव) श्रद्धागुण
पुरुषार्थ	अनन्तर पूर्व-क्षणवर्ती पर्याय युक्त द्रव्य	अपादान	तत्त्वविचार (तत्त्वनिर्णय)
काललब्धि/ भवितव्यता	तत्समय की योग्यता	करण, सम्प्रदान और कर्म	सम्यग्दर्शन प्रकट होने का काल और योग्यता;
निमित्त	निमित्त	व्यवहार षट्कारक	जिनोपदेशादि अऔर दर्शनमोहादि के उपशमादि।

मोक्षमार्ग का स्वरूप

प्रश्न 13- तत्त्वनिर्णय कैसे और कब होता है ?

उत्तर - सच्चा उपदेश प्राप्त होनेपर, वहाँ उपयोग लगानेपर, मोह मन्द होनेपर, तत्त्वनिर्णय होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 310-311)

प्रश्न 14- सम्यग्दर्शन होनेपर, किस प्रकार का श्रद्धान होता है ?

उत्तर - **'मैं, आत्मा हूँ; मुझे, रागादि नहीं करना'**—इस प्रकार का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन होनेपर होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 312)

प्रश्न 15- टोडरमलजी के अनुसार, मोक्ष के कारण, कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर - टोडरमलजी के अनुसार, मोक्ष के कारण, तीन प्रकार के होते हैं —

1. कुछ कारण ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता परन्तु जिनके होनेपर, कार्य होता भी है या नहीं भी होता।

   जैसे-मुनिलिंग धारण किए बिना तो मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करनेपर, मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

2. कुछ कारण ऐसे होते हैं—मुख्यत: तो जिनके होनेपर, कार्य होता है परन्तु किसी को उनके हुए बिना भी, कार्यसिद्धि होती है।

   जैसे-अनशनादि बाह्यतप का साधन होनेपर, मुख्यत: मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु भरतादि को बाह्यतप किए बिना ही, मोक्ष की प्राप्ति हुई।

3. कुछ कारण ऐसे होते हैं—जिनके होनेपर, कार्यसिद्धि होती ही होती है और जिनके नहीं होनेपर, कार्यसिद्धि सर्वथा नहीं होती।

   जैसे-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होनेपर, तो मोक्ष होता ही होता है; उनके नहीं होनेपर, मोक्ष सर्वथा नहीं होता। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 313-314)

प्रश्न 16- 'सम्यग्दर्शन' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर - 'सम्यग्दर्शन' शब्द में, सम्यक् शब्द का अर्थ, विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रहित, यथार्थ तथा 'दर्शन' शब्द का अर्थ, (मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से) श्रद्धान है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 318)

प्रश्न 17- सम्यग्दर्शन के कितने लक्षण हैं और उनमें मुख्य लक्षण कौन-सा है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन के चार लक्षण बताये हैं— पहले तो देवादि का श्रद्धान हो, फिर तत्त्वों का विचार हो, फिर आपा-पर का चिन्तन करे, फिर केवल आत्मा का चिन्तन हो—इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर, कोई जीव, सिद्धपद को भी प्राप्त कर लेता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 328)

इनमें तत्त्वार्थश्रद्धान, यह सम्यग्दर्शन का मुख्य लक्षण है क्योंकि इसमें अन्य तीन लक्षणों का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रश्न 18- 'तत्त्वार्थश्रद्धान', सम्यग्दर्शन के इस लक्षण में, स्व-पर श्रद्धानादि तीन लक्षणों का समावेश कैसे हो जाता है ?

उत्तर - स्व-पर के श्रद्धान में भी, जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष —इन सात तत्त्वों का श्रद्धान गर्भित है।

क्योंकि जिस प्रयोजन से ऐसा श्रद्धान हुआ, वह मोक्ष—इस प्रकार मोक्ष का श्रद्धान गर्भित है; संवर-निर्जरा के श्रद्धानपूर्वक ही रागादिरहित होकर, स्वरूप में उपयोग लगाता है; इसलिए स्व-पर के श्रद्धान में, संवर-निर्जरा का श्रद्धान गर्भित है। आस्रव-बन्ध के श्रद्धानपूर्वक ही, पूर्व की अवस्था को छोड़ता है; इसलिए स्व-पर के श्रद्धान में, आस्रव-बन्ध का श्रद्धान गर्भित है।

आत्मा के निश्चय ही को सम्यग्दर्शन कहा, वहाँ 'पर का, पररूप श्रद्धान हुए बिना, आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान नहीं होता'; इसलिए अजीव का श्रद्धान होनेपर ही, जीव का श्रद्धान होता है। इस प्रकार आत्मा के श्रद्धान में, अजीवतत्त्व का श्रद्धान गर्भित है। शेष का समावेश पूर्ववत् जानना।

सात तत्त्वों के श्रद्धान में, अर्हन्तादि का श्रद्धान गर्भित है क्योंकि जो सात तत्त्वों में मोक्षतत्त्व को श्रेष्ठ मानता है, उसके अर्हन्त-सिद्ध का श्रद्धान हुआ ही, क्योंकि मोक्षतत्त्व, अर्हन्त-सिद्ध का लक्षण है। जो लक्षण को श्रेष्ठ माने, वह लक्ष्य को श्रेष्ठ माने ही माने; इसलिए मोक्षतत्त्व के श्रद्धान में, अर्हन्त-सिद्धदेव का श्रद्धान गर्भित है। जो मोक्ष को श्रेष्ठ मानता है, वह उसके कारणरूप संवर -निर्जरा को श्रेष्ठ मानता है; संवर-निर्जरा के धारक मुख्यतः मुनि हैं; इसलिए संवर-निर्जरा के श्रद्धान में, मुनि का श्रद्धान गर्भित है। रागादिरहित भाव का नाम, अहिंसारूप धर्म है। रागादि भाव, आस्रवरूप तथा बन्ध के कारण हैं; इसलिए आस्रव-बन्ध के श्रद्धान में, उनसे रहित, धर्म का श्रद्धान गर्भित है।

इस प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान में, शेष तीन लक्षणों का समावेश जानना।

इन लक्षणों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध भी है। जिसे आत्मा का, स्व-पर का तथा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान होता है, उसे सात तत्त्वों का श्रद्धान होता

ही है तथा जिसे सात तत्त्वों का श्रद्धान होता है, उसे आत्म-श्रद्धान स्व-पर का श्रद्धान तथा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान, होता ही है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 323-324, 326)

प्रश्न 19- आत्मश्रद्धान में तो सात तत्त्वों का श्रद्धान गर्भित है, तब तत्त्वश्रद्धान को ही मुख्य क्यों किया?

उत्तर - तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में, देवादि का श्रद्धान, आपा-पर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान गर्भित होता है-यह तो तुच्छ (अल्प) बुद्धियों को भी भासित होता है परन्तु अन्य लक्षणों में, तत्त्वार्थश्रद्धान का गर्भितपना, जो विशेष बुद्धिमान हों, उन्हीं को भासित होता है; तुच्छबुद्धियों को भासित नहीं होता।

तत्त्वार्थ का विचार, शीघ्रपने विपरीत अभिनिवेश के नाश का कारण है; शेष लक्षण, शीघ्रपने विपरीत अभिनिवेश के नाश के कारण नहीं हैं।

तत्त्वार्थ के विचार बिना, शेष लक्षण, विपरीत अभिनिवेश के कारण भी हो सकते हैं; इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण को मुख्य किया। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 330)

प्रश्न 20- सम्यक्त्व, एक ही प्रकार का होनेपर भी, उसके कितने भेद बताए हैं?

उत्तर - वास्तव में, सम्यक्त्व तो एक ही प्रकार का है, फिर भी उपचार से, निमित्त आदि की अपेक्षा और दर्शनमोह की अपेक्षा से, भेद बताए गये हैं।

सम्यक्त्वरूप कार्य का, कारण में उपचार करके, नय की अपेक्षा निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन—ऐसे दो भेद किए गये हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 330-331-332)

निमित्तादि की अपेक्षा से, सम्यग्दर्शन के—(1) आज्ञासम्यक्त्व, (2) मार्गसम्यक्त्व, (3) उपदेशसम्यक्त्व, (4) सूत्रसम्यक्त्व, (5) बीजसम्यक्त्व, (6) संक्षेपसम्यक्त्व, (7) विस्तारसम्यक्त्व, (8) अर्थसम्यक्त्व, (9) अवगाढसम्यक्त्व और (10) परमावगाढ-सम्यक्त्व—ऐसे दश भेद किए गये हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 332)

दर्शनमोहादि की अपेक्षा से—(1) औपशमिकसम्यक्त्व, (2)क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और (3) क्षायिकसम्यक्त्व—ऐसे तीन भेद किए गये हैं।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 330-31-32-33)

इसी प्रकार देशनालब्धि की अपेक्षा, निसर्गज और अधिगमज; चारित्र की अपेक्षा सराग और वीतराग भेद भी, सम्यक्त्व के प्राप्त होते हैं।

प्रश्न 21– सादिमिथ्यादृष्टि जीव की सत्ता में, दर्शनमोहनीयसम्बन्धी, कितनी प्रकृतियाँ पायी जा सकती हैं?

उत्तर – सादिमिथ्यादृष्टि में, किसी के, तीन प्रकृतियों की सत्ता है, किसी के दो और किसी के एक ही की सत्ता है। जिसको सम्यक्त्वकाल में तीन की सत्ता हुई थी, वह सत्ता जिसे पायी जाती है, उसको तीन की सत्ता है परन्तु जिसके सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना हो गई हो, उसके परमाणु मिश्रमोहनीयरूप परिणमित हो गए हों, उसके मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय—इन दो की सत्ता है; इसी प्रकार जिसको मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना हो गई हो, उनके परमाणु, मिथ्यात्वरूप परिणमित हो गये हों, उसको एक मिथ्यात्व की सत्ता है; इसलिए सादिमिथ्यादृष्टि के, तीन प्रकृतियों, दो प्रकृतियों या एक प्रकृति का अर्थात् अनन्तानुबन्धीसहित सात, छह या पाँच प्रकृतियों का उपशम होता है।

प्रश्न 22– वेदकसम्यक्त्व अथवा कृतकृत्यवेदकसम्यक्त्व, इन भेदों में नहीं आया, ऐसा क्यों?

उत्तर – वेदकसम्यक्त्व या कृतकृत्यवेदकसम्यक्त्व का अन्तर्भाव, क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन में ही है। 'क्षायोपशमिकसम्यक्त्व ही का नाम, वेदकसम्यक्त्व है।'

क्योंकि क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन से ही, क्षायिकसम्यग्दर्शन प्रकट होता है। वहाँ क्षायिकसम्यक्त्व के सम्मुख होनेपर, जब जीव, अन्तर्मुहूर्त कालमात्र में मिथ्यात्वप्रकृति का क्षय करता है, तब वहाँ (दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) दो प्रकृतियों ही की सत्ता रहती है; पश्चात् मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व) का भी क्षय करता है, वहाँ (दर्शनमोहनीय की तीन में से, मात्र एक) सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है; पश्चात् (शेष रही उस) सम्यक्त्वमोहनीय की जब तक काण्डकघात आदि क्रिया नहीं करता, तब तक कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है—ऐसा जानना।

मिथ्यात्वप्रकृति और मिश्रमोहनीय के नाश के बाद, 'सम्यक्त्वमोहनीय के

निषेक उदय में आकर खिरते हैं, उनकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे स्थितिकाण्डकादि द्वारा घटाता है। जब (सम्यक्त्वप्रकृति की) अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहती है, तब वह कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि होता है।

जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक नाम पाता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहते हैं, वहाँ वेदक नाम पाता है—ऐसे कथनमात्र दो नाम हैं; स्वरूप में भेद नहीं है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 334/335)

प्रश्न 23- अनन्तानुबन्धीप्रकृति, किसका घात करती है?

उत्तर - अनन्तानुबन्धीप्रकृति, चारित्रमोह की प्रकृति होने से, परमार्थतः चारित्र ही का घात करती है। सम्यक्त्व होनेपर, अनन्तानुबन्धीकषाय का भी उदय नहीं होता–ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाने से, उपचार से अनन्तानुबन्धी में भी, सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाए तो दोष नहीं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 336)

प्रश्न 24- ऐसा है तो अनन्तानुबन्धी का अभाव होनेपर, चतुर्थ गुणस्थान में, चारित्र होना चाहिए, तब फिर वहाँ असंयम क्यों कहा?

उत्तर - अनन्तानुबन्धी के जानेपर, कषायों की कुछ मन्दता तो होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती, जिससे कोई चारित्र (संयमाचरणचारित्र के भेदों में से कोई एक) नाम प्राप्त करे, क्योंकि कषायों के असंख्यातलोकप्रमाण स्थान हैं, उनमें सर्वत्र पूर्वस्थान से, उत्तरस्थान में मन्दता पायी जाती है परन्तु व्यवहार से, उन स्थानों की, तीन मर्यादाएँ कही गयी हैं —

(1) प्रारम्भ के बहुत स्थान तो, असंयमरूप कहे, (2) फिर कितने ही देशसंयमरूप कहे, (3) फिर कितने ही सकलसंयमरूप कहे; उनमें —

प्रथम गुणस्थान से लेकर, चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त जो कषाय के स्थान होते हैं, वे सर्व असंयम ही के होते हैं; इसलिए कषायों की मन्दता होनेपर भी, चारित्र (संयम) नाम नहीं पाते हैं।

परमार्थ से तो कषाय का घटना, चारित्र (सम्यक्त्वाचरणचारित्र) का अंश है तथापि व्यवहार से, जहाँ ऐसा कषायों का घटना हो, जिससे श्रावकधर्म या मुनिधर्म का अंगीकार हो, वहाँ ही चारित्र (संयमाचरणचारित्र)

नाम पाता है। असंयत (गुणस्थान) में कषायें ऐसी घटती नहीं हैं; इसलिए यहाँ असंयम कहा है।

(चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग प्रकट हुआ है। मोक्षमार्ग नाम, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की एकता का है; अकेले सम्यग्दर्शन के प्रकट होने का नाम, मोक्षमार्ग नहीं है। इस अपेक्षा, चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्चारित्र का अंश प्रकट हुआ है परन्तु वह, चारित्र नाम नहीं प्राप्त करता; असंयम ही कहा जाता है।) (मो.मा.प्र., पृष्ठ 337)

प्रश्न 25- प्रशस्त-उपशम किसे कहते हैं और वह, किन प्रकृतियों का होता है?

उत्तर - जो करण द्वारा, उपशमविधान से उपशम हो, उस उपशम को प्रशस्त-उपशम कहते हैं, यह अन्तरकरणरूप होता है। यह अनन्तानुबन्धी के अलावा, शेष अप्रत्याख्यानादि चारित्र की प्रकृतियों का तथा दर्शनमोहनीय प्रकृतियों का ही होता है। मोहनीय के अलावा, शेष सात प्रकृतियों का नहीं होता।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 335)

प्रश्न 26- अप्रशस्त-उपशम किसे कहते हैं और वह, किन प्रकृतियों का होता है?

उत्तर - उदय का अभाव, उसका नाम अप्रशस्त-उपशम है। यह, सदवस्थारूप होता है। यह, ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्मों में होता है। अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त-उपशम या विसंयोजन होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व में तो अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त-उपशम ही होता है। क्षायोपशमिकसम्यक्त्व में, किसी-किसी जीव को, (अनन्तानुबन्धी का) अप्रशस्त उपशम होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 335-336)

प्रश्न 27- विसंयोजन किसे कहते हैं और वह, किन प्रकृतियों का होता है?

उत्तर - तीन करण (अध:करणादि) द्वारा, अनन्तानुबन्धी के परमाणुओं को, चारित्रमोह की अन्य प्रकृतिरूप परिणमित कराके, उसकी सत्ता का नाश करना, उसे विसंयोजन कहते हैं।

यह चारित्रमोहनीय की, मात्र अनन्तानुबन्धीप्रकृतियों का ही होता है; अप्रत्याख्यानादि का नहीं तथा शेष सात कर्मों का भी नहीं होता।

1. क्षायिकसम्यक्त्व से पहले, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन नियम से होता है।

2. क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन में, किसी-किसी जीव के होता है।

3. द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन में, कुछ आचार्यों के अनुसार होता है; कुछ आचार्यों के मत में, विसंयोजन का नियम नहीं है।

इन तीन विसंयोजन स्थानों में, विशेष इतना कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी का कभी भी बन्ध नहीं होता है। शेष दो स्थानवाले अर्थात् द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि, यदि मिथ्यात्व में आएँ तो, पुनः अनन्तानुबन्धी का बन्ध करते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 335-336)

प्रश्न 28- मिथ्यादृष्टि के तत्त्वार्थश्रद्धान, किस निक्षेप से है और किस निक्षेप से नहीं है ?

उत्तर - मिथ्यादृष्टि को जो तत्त्वश्रद्धान कहा है, वह नामनिक्षेप से कहा है; जिसमें तत्त्वश्रद्धान का गुण नहीं, परन्तु व्यवहार में, जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहा जाता है, वह मिथ्यादृष्टि को होता है अथवा आगमद्रव्यनिक्षेप से होता है; वह तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास करता है परन्तु उनका स्वरूप निश्चय करने में, उपयोग नहीं लगाता है —ऐसा जानना; लेकिन यहाँ सम्यक्त्व का लक्षण, जो तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है, वह भावनिक्षेप से कहा है—ऐसा गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान, मिथ्यादृष्टि को कदापि नहीं होता। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 322)

प्रश्न 29- द्वितीयोपशमसम्यक्त्व, कौन से गुणस्थान में होता है ?

उत्तर - **'द्वितीयोपशमसम्यक्त्व, सप्तमादि ग्यारहवें गुणस्थानपर्यन्त होता है। गिरते हुए किसी जीव का छट्ठे, सातवें और चौथे में भी रहता है।'**

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 333/334)

प्रश्न 30- सर्वघातिस्पर्धक तथा देशघातिस्पर्धक में क्या अन्तर है ?

उत्तर - जिन स्पर्धकों में लता, दारु, अस्थि, शैल - जैसा अनुभाग पाया जाता है, वे देशघातिस्पर्धक हैं तथा जिन स्पर्धकों में लता - जैसा अनुभाग न होकर, मात्र दारु, अस्थि और शैल - जैसा अनुभाग होता है, उन्हें सर्वघातिस्पर्धक कहते

हैं। यह भी विचारणीय है कि लता – जैसा अनुभाग होने से ही, देशघातिस्पर्धकों में क्षयोपशम सम्भव है।

प्रश्न 31– क्या प्रथमोपशमसम्यक्त्व, एक भव में कई बार हो सकता है?

उत्तर – एक बार प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने के बाद, उस जीव को पुनः होने में, जघन्य अन्तर, पल्य का असंख्यातवाँ भाग अर्थात् असंख्यात वर्ष होता है। कर्मभूमिज तिर्यंच या मनुष्य की उत्कृष्ट आयु, एक कोटि पूर्व से अधिक नहीं होती, जिसमें संख्यात वर्ष ही होते हैं अर्थात् 84 लाख × 84 लाख × 1 करोड़ वर्ष ही होते हैं। यह संख्या, असंख्यात वर्ष से कम है; इसलिए किसी भी कर्मभूमिज तिर्यंच और मनुष्य को एक भव में, दुबारा प्रथमोपशमसम्यक्त्व नहीं होता है। भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच और संख्यात वर्ष से अधिक आयुवाले देव –नारकियों को, उनकी आयु के अनुसार, कई बार प्रथमोपशमसम्यक्त्व हो सकता है।

प्रश्न 32– वेदकसम्यक्त्वी जीव के, अनन्तानुबन्धीकषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्वप्रकृति, उदयावली में रहती हैं या नहीं?

उत्तर – वेदकसम्यक्त्वी जीव के, अनन्तानुबन्धी 4, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व —ये 6 प्रकृतियाँ, उदयावली में तो रहती हैं परन्तु उदय में आने से, एक समय पूर्व, उनका स्तिबुकसंक्रमण होकर, अन्य सजातीय प्रकृतिरूप संक्रमण होता है अर्थात् स्वमुख उदय नहीं होता; परमुख उदय होता है। मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व तो सम्यक्प्रकृतिरूप होकर, उदय में आती हैं और अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरण आदिरूप से उदय में आती हैं।

यह भी जानना चाहिए कि उपशमसम्यक्त्व के काल में, जब सात प्रकृतियों का उपशम रहता है, तब दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियाँ, उदय में नहीं रहती और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का द्रव्य स्तिबुकसंक्रमण होकर, अप्रत्याख्यानावरण आदिरूप से उदय में आता रहता है।

प्रश्न 33- किस सम्यक्त्व से, कौन-सा सम्यक्त्व हो सकता है और कौन-सा नहीं?

उत्तर - (1) प्रथमोपशमसम्यक्त्व से, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व हो सकता है; क्षायिक या द्वितीयोपशम नहीं।

(2) द्वितीयोपशमसम्यक्त्व से, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व हो सकता है; प्रथमोपशम या क्षायिक नहीं।

(3) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व से, क्षायिकसम्यक्त्व एवं द्वितीयोपशमसम्यक्त्व हो सकते हैं; प्रथमोपशम नहीं।

(4) क्षायिकसम्यक्त्व के बाद, अन्य किसी की आवश्यकता नहीं रहती; अत: अन्य कोई सम्यक्त्व नहीं होता।

प्रश्न 34- औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिकसम्यक्त्व में, अन्तर लिखें?

उत्तर -

प्रथमोपशम/ औपशमिकसम्यक्त्व	क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व	क्षायिक-सम्यक्त्व
1. यह, सबसे पहले होता है।	यह, औपशमिक के बाद होता है।	यह, क्षायोपशमिक के बाद होता है।
2. इसमें, एक बार ही त्रिकरण परिणाम होते हैं।	इसके लिए, त्रिकरण, आवश्यक नहीं हैं।	इसमें, दो बार त्रिकरणपरिणाम होते हैं।
3. इसमें, सम्यक्त्व विरोधी, सभी की सत्ता है।	इसमें भी सातों प्रकृतियों की सत्ता रहती है।	इसमें, सातों ही प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती है।
4. इसमें, सातों में से किसी का भी उदय नहीं है।	इसमें, सम्यक्त्वप्रकृति का उदय रहता है।	इसमें, उदय की सम्भावना ही नहीं है।
5. यह गिरकर, तीसरे, दूसरे या पहले गुणस्थान में भी आ सकता है।	यह गिरकर, तीसरे या पहले गुणस्थान में ही आ सकता है; दूसरे में नहीं।	यह, अप्रतिपाती होने से, गिरता ही नहीं है।
6. इस काल में गुणस्थान का आरोहन, सम्भव नहीं है।	इस काल में सातवें गुणस्थान तक आरोहन सम्भव है।	यह जीव, सिद्धावस्था की प्राप्ति कर सकता है।

7. इसका उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त है।	इसका उत्कृष्ट काल, 66 सागर है।	इसका उत्कृष्ट काल, अनन्त है।
8. इसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति के समय, गुणश्रेणी-निर्जरा होती है।	इसमें, गुणश्रेणी-निर्जरा नहीं होती है।	इसमें, गुणश्रेणी-निर्जरा सतत होती रहती है।
9. यह, पूर्ण निर्दोष है।	यह, चल, मल, अगाढ़ दोषों से युक्त है।	यह, पूर्ण निर्दोष है।
10. एक बार होकर, छूट जानेपर, पुनः असंख्यात वर्ष बाद हो सकता है।	यह, पल्य के असंख्यातवें भाग में अनेकों बार छूटकर, पुनः हो सकता है।	यह, कभी नहीं छूटता है।

इत्यादि प्रकार से, इन तीनों सम्यक्त्वों में अन्तर है।

प्रश्न 35- क्षयोपशम, प्रशस्तउपशम, सदवस्थारूप उपशम, विसंयोजना तथा संक्रमण, किन प्रकृतियों में सम्भव है?

उत्तर - (1) **क्षयोपशम** तो मात्र, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातिकर्मों में ही होता है; अघातिकर्मों में नहीं। विशेषण यह कि, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय—इन तीनों कर्मों का क्षयोपशम, अनादि से निगोदिया जीवों में भी नियम से पाया जाता है।

(2) **प्रशस्तउपशम,** अनन्तानुबन्धी को छोड़कर, दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयकर्मों में ही होता है; अन्य सातों कर्मों में नहीं।

(3) **सदवस्थारूप** या अप्रशस्तउपशम, मात्र चारों घातिकर्मों में ही होता है; अघातिकर्मों में नहीं।

(4) **विसंयोजना,** मात्र अनन्तानुबन्धी कषाय की ही होती है; अन्य किसी भी कर्म में या अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों में नहीं होती।

(5) **संक्रमण** भी, सभी कर्मों में नहीं होता। **जैसे**-आयुकर्म के चारों भेदों का परस्पर में संक्रमण नहीं होता। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय में भी परस्पर, संक्रमण नहीं होता। मूलकर्मों में संक्रमण नहीं होता।

सजातीयप्रकृति के उत्तर भेदों में, संक्रमण होता है। जैसे – साता का, असातावेदनीय में। मिथ्यात्व का, मिश्र में और मिश्र का, सम्यक्त्वप्रकृति में; अनन्तानुबन्धी चार कषायों का, 12 कषाय और 9 नोकषायों में; अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरणकषायों का, अन्य कषाय-नोकषायों में आदि।

प्रश्न 36– क्षायिकसम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन तथा द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन, किन गुणस्थानों में उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर – क्षायिकसम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन, 4 से 7 गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होते हैं। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन भी इन्हीं चार गुणस्थानों में रहता है।

प्रश्न 37– भव्यमार्गणा का एक भेद, अभव्यत्व कैसे हो सकता है तथा सम्यक्त्व की कितनी मार्गणाएँ सम्भव हैं ?

उत्तर – भव्यत्वापेक्षा, जीव की पहिचान करते समय, कुछ जीव, भव्य पाये जाते हैं परन्तु जिनमें भव्यत्व नहीं है—ऐसे जीव, अभव्य कहलाते हैं। इस प्रकार जीव की तलाश, भव्यत्वापेक्षा की जाए, तो दो प्रकार के जीव पाये जाते हैं; भव्य तथा अभव्य। इन कारणों से भव्यमार्गणा में, अभव्यत्व भी शामिल हो जाता है।

इसी प्रकार सम्यक्त्वापेक्षा, जीव की पहिचान करते समय, सम्यक्त्व के अभाववाले अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व की विराधनावाले अर्थात् सासादनसम्यक्त्व, मिथ्यात्व के अंश के साथ, सम्यक्त्व के आंशिक सद्भाववाले अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व, उपशमसम्यक्त्वी, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी तथा क्षायिकसम्यक्त्वी —ये छह प्रकार के जीव पाये जाते हैं। इनके अलावा, कोई जीव, शेष नहीं रहता; अत: सम्यक्त्व की मिथ्यात्वादि छह मार्गणाएँ कही हैं।

प्रश्न 38– इस अध्याय का अन्तिम वाक्य क्या है ?

उत्तर – ये सम्यक्त्वी के नहीं होते; कदाचित् किसी को कोई मल लगता है परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा नाश नहीं होता; वहाँ सम्यक्त्व मलिन ही होता है - ऐसा जानना। बहु .....!!

—oo—

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित

रहस्यपूर्ण चिट्ठी

(प्रश्नोत्तरी)

प्रश्न 1- रहस्यपूर्ण चिट्ठी किसने लिखी है ?

उत्तर - रहस्यपूर्ण चिट्ठी के रचयिता, पण्डित टोडरमलजी हैं।

प्रश्न 2- रहस्यपूर्ण चिट्ठी किसने, किसे तथा क्यों लिखी थी ?

उत्तर - मुलताननगर (तात्कालिक भारतदेश का एक नगर, जो कि आज पाकिस्तान में है) के कुछ जिज्ञासु साधर्मियों ने, रामसिंहजी भुवानीदासजी के लिए भेजा था। उसके समाचार जहानाबाद से कुछ सधर्मियों ने पण्डित टोडरमलजी को जयपुर में एक चिट्ठी भेजकर, आत्मानुभवसम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे थे, उसी के उत्तरस्वरूप, पण्डित टोडरमलजी ने जयपुर से मुलताननगर, यह पत्र भेजा था, जो 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रश्न 3- इस चिट्ठी का नाम, 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' रखने के पीछे क्या रहस्य है ?

उत्तर - इस चिट्ठी में, आत्मानुभवसम्बन्धी रहस्य को, साधर्मियों के प्रश्नों के उत्तर, पत्रशैली में वर्णन किये गये हैं; इसलिए इसका नाम 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' है।

प्रश्न 4- मुलताननगरवालों ने पण्डितजी को प्रश्नों की चिट्ठी भेजी थी, वह कहाँ है ?

उत्तर - यह आश्चर्यजनक है कि मुलताननगर (कराँची) से जयपुर भेजा गया, प्रश्नों का पत्र, आज अनुपलब्ध है परन्तु पण्डितजी की उत्तरस्वरूप, जयपुर से मुलताननगर, भेजी गयी, 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी', आज भी उपलब्ध है।

यह हमारा सौभाग्य ही है।

प्रश्न 5- मुलताननगरवालों ने पण्डितजी से क्या पूछा था ?

उत्तर - मुलताननगरवालों ने, पण्डितजी से जो भी पूछा था, यह तो चिट्ठी की (अनुपलब्ध) होने के कारण, ज्ञात नहीं है परन्तु हम पण्डितजी के उत्तरस्वरूप

लिखी चिट्ठी से, अनुमान लगा सकते हैं कि मुलताननगर के साधर्मियों ने निम्न प्रश्न पूछे होंगे—

1- सम्यक्त्व, प्रत्यक्ष है या परोक्ष ?

2- क्या 'निश्चयसम्यक्त्व, प्रत्यक्ष तथा व्यवहारसम्यक्त्व, परोक्ष'—ऐसा मानना ठीक है ?

3- 'देवादि का श्रद्धान, जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन तथा स्व-पर का श्रद्धान (आत्मश्रद्धान), वह निश्चय-सम्यग्दर्शन', क्या ऐसी मान्यता सही है ?

4- 'जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड का एकदेश / अंश—दूज के चन्द्रमा, जलबिन्दु तथा अग्निकणिका में पाया जाता है; उसी प्रकार केवली, सर्व ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानते हैं और चौथे गुणस्थानवाले भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानते होंगे ?

5- सम्यक्त्वी, आत्मा को प्रत्यक्ष जानें तो कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष क्यों नहीं जानें (अर्थात् अवश्य जानते होंगे) ?

प्रश्न 6- इस पत्र के अनुसार सविकल्प से निर्विकल्प होने की विधि क्या है ?

उत्तर - आपा-पर के श्रद्धान द्वारा, शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्व को, निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 341)

आत्मानुभव की कला (विधि) यह है कि—जीव, सर्व प्रथम स्व-पर का भेदविज्ञान करता है—नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्मरहित, केवल चैतन्य-चमत्कारमात्र, अपना स्वरूप जानता है; तत्पश्चात् पर का भी विचार छूट जाता है, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार से निजस्वरूप में अहंबुद्धि धारण करता है; 'चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ'—इत्यादि विचार होनेपर, सहज ही आनन्द-तरंगें उठती हैं, रोमांच हो आता है। तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाता है; केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगता है, वहाँ सर्व परिणाम, उस स्वरूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन-ज्ञानादि का व नय-प्रमाणादि का भी विकल्प, नष्ट हो जाता है।

इसमें अनादि से चले आ रहे मिथ्यात्व का नाशकर, निर्विकल्प अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त करने की विधि एवं क्रम बताया गया है।

प्रश्न 7- टोडरमलजी की वर्तमानकाल के सम्बन्ध में, क्या टिप्पणी है?

उत्तर - वर्तमानकाल में, अध्यात्मरस के रसिक, बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की बात भी करते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 341)

इस कथन की सिद्धि के लिये, उन्होंने आचार्य पद्मनन्दि कृत पद्मनन्दि पंचविंशतिका का एक श्लोक उद्धृत किया है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥ *(एकत्वाशीति, २३)*

अर्थ-जो जीव, प्रसन्नचित्त से चेतनस्वरूप आत्मा की बात भी सुनता है, वह निश्चय से भव्य है; अल्प काल में मोक्ष का पात्र है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 341)

प्रश्न 8- चिट्ठी में, सम्यग्दर्शन के किन लक्षणों की चर्चा की गयी है?

उत्तर - पण्डितजी ने, सम्यग्दर्शन के जिन लक्षणों की चर्चा की है, उसे हम निम्न तालिका के द्वारा देखते हैं—

सम्यग्दर्शन

- **निश्चय (परमार्थ) सम्यग्दर्शन**
  - **बुद्धिपूर्वक**
    1. स्व-पर का श्रद्धान;
    2. शुद्धात्म का श्रद्धान।
  - **अबुद्धिपूर्वक**
    3. दर्शनमोह का क्षय/क्षयोपशम/उपशम।
- **व्यवहारसम्यग्दर्शन**
  1. देव, गुरु तथा धर्म का श्रद्धान;
  2. सप्त तत्त्वों का श्रद्धान।

इस प्रकार, इस चिट्ठी में, सम्यग्दर्शन के लक्षणों की चर्चा की गयी है।

प्रश्न 9- प्रत्यक्षप्रमाण, कितने प्रकार के होते हैं? (पृष्ठ 296)

उत्तर - लोकव्यवहार में इन्द्रिय द्वारा जानने का नाम, प्रत्यक्ष है। यह **सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष** कहलाता है। यह कथन की न्यायशैली मानी जाती है।

प्रमाणभेदों में स्पष्ट प्रतिभास का नाम, प्रत्यक्ष है। यह **पारमार्थिक– प्रत्यक्ष** है। यह सैद्धान्तिक शैली है।

अवधि तथा मन:पर्ययज्ञान, एकदेश प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान, पूर्ण प्रत्यक्ष है।

आत्मानुभवनादि में, अपने में प्रगट अवस्था का नाम, प्रत्यक्ष है। यह **स्वसंवेदनप्रत्यक्ष (अनुभवप्रत्यक्ष)** है।

प्रश्न 10– शुभाशुभ परिणाम के काल में, सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे रहता है?

उत्तर – जैसे–सेठ का कार्य करते हुए भी, गुमाश्ते का अन्तरंग श्रद्धान ऐसा है कि 'यह कार्य, मेरा नहीं है'; उसी प्रकार शुभाशुभ परिणामानुसार कार्य करते हुए, सम्यक्त्वी को—ये परिणाम और कार्य, मेरे नहीं है–ऐसा अन्तरंग श्रद्धान होने से, सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व का अस्तित्व, शुभाशुभ परिणामों के समय भी रहता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 342)

प्रश्न 11– 'सम्यक्त्वी के व्यवहारसम्यक्त्व में व अन्य काल में, अन्तरंग निश्चय–सम्यक्त्व गर्भित है, वह सदैव गमनरूप रहता है' इस वाक्य का क्या आशय है?

उत्तर – यहाँ **व्यवहारसम्यक्त्व** का तात्पर्य, शुभभावों से है तथा **अन्य काल** का तात्पर्य, अशुभभावों से है। ध्यान रहे, युद्धादि के अथवा विषयसेवन आदि के अशुभभाव के काल में भी, निश्चयसम्यक्त्व, सुरक्षित रहता है परन्तु अशुभभावों पर, व्यवहारसम्यक्त्व का आरोप नहीं आता; अत: इन्हें अन्य काल में समाहित समझना।

निश्चय–सम्यक्त्वी के, शुभभाव अथवा अशुभभावों के काल में भी, आत्मप्रतीति निरन्तर प्रवर्तमान है। यही '**अन्तरंग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, वह सदैव गमनरूप रहता है**' वाक्य का, उक्त तात्पर्य है।

प्रश्न 12– आत्मानुभव को मनजनित कहने का क्या हेतु है?

उत्तर – पण्डितजी ने, आत्मानुभव को मनजनित कहने के, निम्न हेतु दिए हैं—

1) अनुभव के काल में, मति–श्रुतज्ञान ही वर्तता है और वह इन्द्रिय–मन के अवलम्बन बिना नहीं होता।

2) मन का विषय, अमूर्तिक पदार्थ (आत्मा) भी है; इन्द्रियों के विषय, मूर्तिकपदार्थ ही हैं। आत्मानुभव के काल में, मनज्ञान है।

3) '**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**'–तत्त्वार्थसूत्र, अधिकार 9/27 में ऐसा ध्यान का लक्षण कहा है और ऐसा ध्यान, अनुभवदशा में होता है। यहाँ मनसम्बन्धी परिणाम, स्वरूप में एकाग्र होकर, अन्य चिन्ता का निरोध करते हैं।

प्रश्न 13– आत्मानुभव के प्रत्यक्ष-परोक्षपने तथा स्वाद के विषय में टोडरमलजी क्या कहते हैं?

उत्तर – आत्मानुभव में छद्मस्थ जीव को, आत्मा के प्रदेश, प्रत्यक्ष भासित नहीं होते हैं; इसलिए अनुभव में आत्मा, परोक्ष है परन्तु जो स्वरूप में परिणाम मग्न होने से स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभव, प्रत्यक्ष है।

वहाँ स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम–अनुमानादि परोक्षप्रमाण द्वारा नहीं जानता है; आप (स्वयं) ही अनुभव के रस को वेदता है।

जैसे–कोई अन्ध पुरुष, मिश्री के स्वाद को आस्वादता है, वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं परन्तु जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद, प्रत्यक्ष है; वैसे स्वानुभव में आत्मा, परोक्ष है परन्तु परिणामों में स्वाद आया, वह स्वाद, प्रत्यक्ष है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 346)

प्रश्न 14– अनुभव किस गुणस्थान में होता है?

उत्तर – चौथे गुणस्थान से ही होता है परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में, शीघ्र–शीघ्र होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 346)

प्रश्न 15– चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि एक देश प्रकट गुणों को, किस अपेक्षा से, केवली के समान कहा जाता है?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में ज्ञानादि गुण, एकदेश प्रकट होते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में, सर्वथा प्रकट होते हैं। वहाँ सम्यग्ज्ञान की जाति की अपेक्षा, समान कहा जाता है। वहाँ प्रत्यक्षता की अपेक्षा, एक जाति नहीं जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 348)

प्रश्न 16- पण्डितजी ने, चौथे गुणस्थान से ही आत्मानुभूति कही है। क्या इसके आगमप्रमाण हैं?

उत्तर - **पंचाध्यायीकार, श्लोक 407** में लिखते हैं कि—सम्यक्त्व के होनेपर, नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वानुभूति के रहने में कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय, अवश्य ही स्वयं स्वानुभूत्यावरणकर्म का भी यथायोग्य क्षयोपशम होता है।

पंचास्तिकायसंग्रह की तात्पर्यवृत्ति टीका (गाथा 170) में लिखा है कि —चतुर्थ गुणस्थान के योग्य आत्मभावना (अनुभूति) को नहीं छोड़ता हुआ, वह, देवलोक में काल गँवाता है। पीछे स्वर्ग से आकर, मनुष्यभव में चक्रवर्ती आदि की विभूति को प्राप्त करके भी, पूर्वभव में भावित शुद्धात्मभावना के बल से, मोह नहीं करता है।

ऐसे कई प्रमाण, मूल तथा उत्तर ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जो सिद्ध करते हैं कि, मोक्षमार्ग का प्रारम्भ (चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न सम्यक्त्व), आत्मानुभूति के बिना सम्भव ही नहीं है।

प्रश्न 17- आत्मा को कितने प्रमाणों का विषय बनाया जा सकता है?

उत्तर - आत्मा को निम्न प्रमाणों द्वारा, विषय बनाया जा सकता है—

1) **आगम**—जिनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानता है।

2) **तर्क, अनुमान**—मैं आत्मा ही हूँ क्योंकि मुझमें ज्ञान है; जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है—जैसे-सिद्धादि हैं तथा जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है—जैसे-मृतक कलेवरादि हैं।

3) **स्मरण**—आगम-अनुमान द्वारा जो वस्तु जानने में आयी, उसी को याद रखना।

4) **प्रत्यक्ष (अनुभव)**—इस विधि से, जाने हुए आत्मा में परिणामों को मग्न (तन्मय) करना। 'मैं, आत्मा हूँ'—ऐसा स्वसंवेदन होता है।

इस प्रकार आगम, तर्क, अनुमान (उपलक्षण से अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, प्रत्यभिज्ञान आदि) नामक **परोक्षप्रमाण** का विषय हो सकता है तथा स्वसंवेदन के काल में, कथंचित् **प्रत्यक्षप्रमाण** (स्वसंवेदनप्रत्यक्ष) का विषय होता है।

प्रश्न 18- टोडरमलजी ने चिट्ठी के अन्त में क्या सीख दी है ?

उत्तर - टोडरमलजी ने चिट्ठी के अन्त में बताया कि—**जो जानते हैं, वह सब लिखने में आता नहीं; इसलिए तुम भी अध्यात्म व आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपानन्द में मग्न रहना।** (मो.मा.प्र., पृष्ठ 349)

—oo—

पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित

परमार्थ वचनिका

प्रश्न 1– 'परमार्थ वचनिका' किसकी रचना है तथा इसे मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के साथ क्यों जोड़ा गया है?

उत्तर – 'परमार्थ वचनिका', पण्डित बनारसीदासजी की रचना है। उसे, मोक्षमार्ग-प्रकाशक के परिशिष्ट के रूप में छापने का कारण, उसमें वर्णित विषय की सूक्ष्मता, गम्भीरता तथा विषयजन्य नवीनता है।

प्रश्न 2– पण्डित बनारसीदासजी ने संसारी जीव की कैसी अवस्था बतायी है?

उत्तर – एक जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण व अनन्त पर्यायें, एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश, एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्गलपरमाणु, एक-एक पुद्गलपरमाणु, अनन्त गुण व अनन्त पर्यायसहित विराजमान है।

इस प्रकार यह एक संसारावस्थित जीवपिण्ड की अवस्था है; इसी प्रकार अनन्त जीवद्रव्य, सपिण्डरूप जानना। एक जीवद्रव्य, अनन्त-अनन्त पुद्गलद्रव्य से संयोगित (संयुक्त) मानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 350)

प्रश्न 3– जीव एवं पुद्गलद्रव्य के विषय में अन्य-अन्यता किस प्रकार है?

उत्तर – एक जीवद्रव्य, जिस प्रकार की अवस्थासहित नाना आकाररूप परिणमित होता है, उस प्रकार वह अन्य जीव से नहीं मिलता; उसका इससे अन्य प्रकार परिणमन होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्तस्वरूप जीवद्रव्य, अनन्तानन्तस्वरूप अवस्थासहित वर्त रहे हैं परन्तु किसी जीवद्रव्य के परिणाम, किसी अन्य जीवद्रव्य से मिलते नहीं हैं।

इसी प्रकार एक पुद्गलपरमाणु, एक समय में जिस प्रकार की अवस्था

धारण करता है, वह अवस्था, अन्य पुद्गलपरमाणुद्रव्य से नहीं मिलती। इसलिए पुद्गल (परमाणु) द्रव्य की भी, अन्य-अन्यता जानना।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 350)

प्रश्न 4- जीवद्रव्य की कितनी अवस्थाएँ सम्भव हैं?

उत्तर - जीवद्रव्य की अनन्ती अवस्थाएँ हैं, उनमें मुख्य तीन अवस्थाएँ स्थापित कीं– एक, अशुद्ध-अवस्था; एक, शुद्धाशुद्धरूप मिश्र-अवस्था और एक, शुद्ध -अवस्था—ये तीन अवस्थाएँ, संसारी जीवद्रव्य की जानना तथा संसारातीत सिद्ध, अनवस्थितरूप कहे जाते हैं। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 350)

प्रश्न 5- इस ग्रन्थ में निश्चय-व्यवहार का क्या लक्षण कहा है?

उत्तर - 'निश्चय' तो अभेदरूप द्रव्य है, और द्रव्य के यथास्थित भाव, 'व्यवहार' हैं। विशेष इतना कि जितने काल संसार-अवस्था, उतने काल तक व्यवहार कहा जाता है और सिद्ध, व्यवहारातीत कहे जाते हैं। यहाँ कहा है कि **संसारी सो व्यवहारी; व्यवहारी सो संसारी।**

प्रश्न 6- पण्डित बनारसीदासजी ने जीवद्रव्य का वर्गीकरण किस प्रकार किया है?

उत्तर - 1. अशुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य; 2. शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य; 3. मिश्र निश्चयात्मक द्रव्य। इस प्रकार जीवद्रव्य को तीन भागों में वर्गीकृत किया है।

यहाँ अशुद्धनिश्चय द्रव्य को सहकारी, अशुद्धव्यवहार; मिश्रनिश्चयद्रव्य को सहकारी, मिश्रव्यवहार, व शुद्धनिश्चयद्रव्य को सहकारी, शुद्धव्यवहार।

उक्त अवस्था का विस्तार इस प्रकार से है—

1. जितने काल तक मिथ्यात्व अवस्था, उतने काल तक अशुद्ध निश्चयात्मकद्रव्य, अशुद्धव्यवहारी।
2. सम्यग्दृष्टि होते ही, चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थानकपर्यन्त, मिश्र निश्चयात्मक-द्रव्य, मिश्रव्यवहारी।
3. केवलज्ञानी, शुद्धनिश्चयात्मक द्रव्य, शुद्धव्यवहारी। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 351)

प्रश्न 7- आगम तथा अध्यात्म का स्वरूप स्पष्ट करें।

उत्तर - पण्डित बनारसीदासजी ने **वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम, और आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहा है।**

तात्पर्य यह है कि जिसमें वस्तु सामान्य का कथन आता है अर्थात् छह द्रव्यों का कथन होता है, उसे **आगम** कहते हैं और जिसमें, आत्मा की मुख्यता से कथन हो, उसे **अध्यात्म** कहते हैं।

इसका विवरण इस प्रकार है —

आगमरूप कर्मपद्धति और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति।

कर्मपद्धति, पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप। वहाँ द्रव्यरूप पुद्गलपरिणाम और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्धपरिणतिरूप परिणाम—ये दोनों परिणाम, 'आगमरूप' स्थापित किये और शुद्धचेतनापद्धतिरूप शुद्धात्मपरिणाम, वे भी द्रव्यरूप अथवा भावरूप। द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम और भावरूप, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनन्त गुणपरिणाम—ये दोनों परिणाम, 'अध्यात्मरूप' जानना चाहिए।

इस प्रकार आगम-अध्यात्मरूप दोनों पद्धतियों में, 'अनन्तता' माननी चाहिए।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 352)

प्रश्न 8- पण्डितजी ने द्रव्यों की अनन्तता का स्वरूप कैसे समझाया है?

उत्तर - पण्डितजी ने अनन्तता को वटवृक्ष (बरगद) के बीज के दृष्टान्त से समझाया है, यथा—

वटवृक्ष का एक बीज, हथेली में रखकर, उसका दीर्घदृष्टि से विचार करें, तो उस वट के एक बीज में, एक वट का वृक्ष है; उस वृक्ष की जैसी कुछ भाविकाल में होनहार है; वैसे विस्तारसहित विद्यमान है, उसमें वास्तविकरूप में मौजूद है, उसके प्रत्येक फल में, अनेक बीज होंगे।

इसी प्रकार एक वट में, अनेक-अनेक बीज हैं; वहाँ एक-एक बीज में, एक-एक वट है; उसका विचार करें तो भाविनय की अपेक्षा, न वटवृक्षों की मर्यादा पायी जाती है, न बीजों की मर्यादा पायी जाती है।

इस तरह अनन्तता का स्वरूप जानना। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 352)

प्रश्न 9- केवलज्ञानी, उक्त अनन्तता को किस प्रकार जानते हैं?

उत्तर - उस अनन्तता के स्वरूप को केवलज्ञानी, अनन्त ही देखते-जानते हैं; अनन्त का अन्त तो है ही नहीं, जो ज्ञान में भासित हो; इसलिए केवलज्ञानी को अनन्तता, अनन्तरूप से ही प्रतिभासित होती है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 352)

प्रश्न 10- मिथ्यादृष्टि जीव, आगमी है या अध्यात्मी है?

उत्तर - मिथ्यादृष्टि जीव, कथनमात्र तो ग्रन्थ-पाठ के बल से, आगम-अध्यात्म का स्वरूप, उपदेशमात्र कहता है परन्तु आगम-अध्यात्म का स्वरूप, सम्यक् प्रकार से नहीं जानता; इसलिए मूढ़ जीव (मिथ्यादृष्टि), '**न आगमी है—न अध्यात्मी है; निर्वेदकत्वात्**' (निर्वेदक होने से)।

ज्ञानी तो मोक्षमार्ग को साधना जानता है परन्तु मूढ़, मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानता। यह मूढ़ जीव, आगमपद्धति को व्यवहार कहता है, और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहता है; इसलिए आगम-अंग को, एकान्तपने साधकर, मोक्षमार्ग बताता है और अध्यात्म-अंग को, व्यवहार से नहीं जानता। क्योंकि आगम-अंग, बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसे साधना सुगम प्रतीत होता है, जबकि अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मक्रिया है, वह तो अन्तर्दृष्टि ग्राह्य है, उसे, यह क्रियामूढ़ जीव नहीं जानता; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव, मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ होता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 353)

प्रश्न 11- पण्डितजी ने, 'गुणस्थानप्रमाण क्रिया' तथा 'एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के, अनेकरूप क्रियाएँ'—इन दोनों सिद्धान्तों में क्या अन्तर है?

उत्तर - दोनों कथनों का आशय एक ही है जिसे इस उदाहरण से समझ सकते हैं; जैसे- छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के, शुभभाव एकरूप होते हैं और वे संज्वलनकषाय चौकड़ी के तीव्र उदयरूप रहते हैं; अत: समस्त छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के, आस्रव-बन्ध भी एकसा ही होता है। समस्त छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों में, ऐसी समानता दृष्टिगोचर होनेपर भी, कोई मुनिराज, आहार कर रहे हों, कोई

नहीं कर रहे हों; कोई, विहार कर रहे हों और कोई, नहीं कर रहे हों; कोई, स्वाध्याय कर रहे हों और कोई, नहीं कर रहे हों; कोई, पढ़ा रहे हों तो कोई, ग्रन्थ लिख रहे हों—ऐसे असंख्य अलग-अलग क्रियाएँ दृष्टिगोचर होते हुए भी, बाह्य 28 मूलगुण में कमी नहीं हो सकती और न ही प्रत्याख्यानावरण के उदयसम्बन्धी, कषाय होना सम्भव है।

इस प्रकार एक गुणस्थान में एकरूपता के साथ, औदयिकभावों की भिन्नता को लिए, अनेकरूपता भी दृष्टिगोचर हो सकती है परन्तु इससे मोक्षमार्ग में अन्तर नहीं पड़ता है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 352-353)

प्रश्न 12- बनारसीदासजी के अनुसार, सम्यग्दृष्टि कौन है?

उत्तर - बनारसीदासजी के अनुसार, संशय-विमोह-विभ्रम—ये तीन भाव, जिसमें नहीं होते, वह जीव, सम्यग्दृष्टि है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 353)

प्रश्न 13- संशय-विमोह-विभ्रम अर्थात् क्या?

उत्तर - संशय-विमोह-विभ्रम का स्वरूप, दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं। जैसे—किसी एक स्थान में चार पुरुष खड़े थे। उन चारों के पास आकर, किसी अन्य पुरुष ने एक सीप का टुकड़ा दिखाया और प्रत्येक-प्रत्येक से प्रश्न किया कि 'यह क्या है? - सीप है या चाँदी है ?

1. संशयवान पुरुष का उत्तर होता है कि 'कुछ समझ नहीं पड़ती कि यह सीप है या चाँदी है? मेरी दृष्टि में इसका निर्धार नहीं होता है।'
2. विमोहवान अर्थात् अनध्यवसायी पुरुष कहता है कि 'मुझे यह समझ नहीं है कि तुम सीप किससे कहते हो और चाँदी किससे कहते हो? - मेरी दृष्टि में कुछ आता नहीं है; इसलिए हम नहीं जानते हैं कि तू क्या कहता है? अथवा वह गहलता (तीव्र अज्ञान) के कारण, चुप ही रहता है; बोलता नहीं।'
3. विभ्रम अर्थात् विपर्ययवान पुरुष कहता है कि 'यह तो प्रत्यक्षप्रमाण चाँदी है, इसे सीप कौन कहेगा? मेरी दृष्टि में तो चाँदी सूझता है; इसलिए सर्वथा प्रकार यह चाँदी है।'

इस तरह संशय-विमोह-विभ्रमवान पुरुषों ने उस सीप का स्वरूप जाना नहीं। अत: तीनों मिथ्यावादी हैं।

अब, चौथा पुरुष कहता है कि 'अरे! यह तो प्रत्यक्षप्रमाण सीप का टुकड़ा है, इसमें क्या धोखा है?—सीप-सीप-सीप, निर्धाररूप से सीप ही है, इसको जो कोई अन्य वस्तु कहे, वह प्रत्यक्षप्रमाण से भ्रामक अथवा अन्ध है।

इस प्रकार चौथे पुरुष को स्व-पर के स्वरूप में, न संशय है, न विमोह है, और न विभ्रम है। अर्थात् वह यथार्थ दृष्टिवाला पुरुष, सम्यग्दृष्टि है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 353-354)

प्रश्न 14- बनारसीदासजी के अनुसार, हेय-ज्ञेय-उपादेय क्या है?

उत्तर - बनारसीदासजी के अनुसार, अपने द्रव्य की अशुद्धता, हेय अर्थात् त्यागरूप है। अन्य षट्द्रव्यों का स्वरूप, ज्ञेय अर्थात् विचाररूप है। अपने द्रव्य की शुद्धता, उपादेय अर्थात् आचरणरूप है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 354)

प्रश्न 15- बनारसीदासजी ने ज्ञाता का सामर्थ्यपना किसे बताया है?

उत्तर - बनारसीदासजी ने—1. स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, 2. ज्ञायक-प्रमाण ज्ञान, तथा 3. यथानुभवप्रमाण स्वरूपाचरणरूप चारित्र—ये (सब) ज्ञाता का सामर्थ्यपना है। (मो.मा.प्र., पृष्ठ 355)

प्रश्न 16- परमार्थवचनिका का सार बताओ?

उत्तर - कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा प्रस्तुत परमार्थवचनिका, एक अद्भुत कृति है। इसका प्रतिपाद्य परमार्थ (निश्चय) मोक्षमार्ग है। प्रथम तो पण्डितजी, अनादिकाल से संसारचक्र में घूमते हुए जीवों की, अन्तरंग तथा बहिरंग स्थितिपर प्रकाश डालते हैं। अज्ञानी, बाहर में अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों (द्रव्यकर्म) से बँधा है। वह अन्दर में अपना स्वरूप नहीं जानता; इसीलिए परस्वरूप में मग्न होकर, कार्य मानता है (भावकर्म)। कदाचित् ग्रन्थपाठ में प्रवीणता अर्जितकर, आगम-अध्यात्म के स्वरूप का उपदेश भी करता है परन्तु वह, बन्धमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर, बन्ध को साधता है। अत:

अज्ञानी को मूढ़ कहकर, आगम-अध्यात्म सम्बन्धी निर्वेदक कहा है। आगमोक्त व्यवहार करता हुआ भी, अशुद्धव्यवहारी कहा गया है।

इसके विपरीत, सम्यग्दृष्टि जीव, अपने स्वरूप को संशय, विपर्यास तथा अनध्यवसाय से रहित, अपने स्वरूप को परोक्षप्रमाण द्वारा अनुभवता है। अत: वह मिश्र निश्चयात्मक है। परसत्ता-परस्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ, योगद्वार से अपने स्वरूप के ध्यान-विचाररूप क्रिया करता है, वह कार्य करते हुए, वह मिश्रव्यवहारी है। यह साधक जीव, चौथे से बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

जीव की तीसरी अवस्था, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में स्थित अरहन्तों की है। यहाँ केवलज्ञानी, यथाख्यातचारित्र के बल से, शुद्धात्मस्वरूप के रमणशील है; अत: शुद्धनिश्चयात्मक है तथा योगरूढ़ अवस्था होने से, शुद्धव्यवहारी भी है।

उपरोक्त जीव की तीनों अवस्थाएँ, संसारी जीव के हैं तथा एक ही गुणस्थान में स्थित जीवों के औदयिकभावों की, अनेक प्रकारता तथा तरतमता होती है। अत: किसी भी औदयिकभावों से, कोई गुणस्थान नापा जा सकता है—ऐसा सर्वत्र सम्भव नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र का सम्यक् अथवा मिथ्यापना तो, एक गुणस्थान में स्थित जीवों का समान ही रहता है और साधक-साध्य जीवों ने, रत्नत्रय की जो यथाशक्ति उपलब्धि की है, वह ही ज्ञाता का सामर्थ्य है।

(मो.मा.प्र., पृष्ठ 350 से 355)

—oo—

पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित

उपादान-निमित्त की चिट्ठी

प्रश्न 1- उपादान-निमित्त की चिट्ठी के लेखक, कौन हैं और उनकी रचनाएँ कौन -कौन सी हैं ?

उत्तर - उपादान-निमित्त की चिट्ठी के लेखक, सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित बनारसीदासजी हैं, जिनका जन्म, माघ शुक्ला एकादशी, रविवार को वि.सं. 1643 में जौनपुर में हुआ था।

पण्डित बनारसीदाजी ने—(1) बनारसी विलास, (2) नाममाला, (3) अर्द्धकथानक, (4) नाटक समयसार, जैसी रचनाएँ की हैं। पण्डितजी शुद्ध-तेरहपंथ आम्नाय के संस्थापक विद्वान माने जाते हैं।

प्रश्न 2- इस चिट्ठी में प्रतिपादित, उपादान तथा निमित्त में क्या विशेषता है ?

उत्तर - प्रचलित शैली में, निमित्त को परद्रव्य के रूप में स्वीकारा जाता है। वह शैली, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से है परन्तु यहाँ, पण्डितजी ने द्रव्यार्थिकनय की शैली से भी निरूपण करके, एक द्रव्य के बीच में ही, परस्पर दो गुणों की पर्यायों में, निमित्त-उपादान का प्रयोग किया है। यह परमाध्यात्मिक शैली है। गुण स्वतन्त्रता की चरमसीमा का यह विशेष प्रयोग है।

प्रश्न 3- बनारसीदासजी के अनुसार, निमित्त-उपादान क्या हैं और इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - बनारसीदासजी के अनुसार, संयोगरूप कारण तो निमित्त है; वस्तु की सहज शक्ति, उपादान है।

इसके द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान तथा पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान —ऐसे दो भेद हैं। विवक्षित गुण, उपादान तथा उसी समय दूसरा गुण, निमित्त—ऐसा द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान है।

प्रश्न 4- वह किस प्रकार है?

उत्तर - वैसे तो जीववस्तु में अनन्तानन्त गुण हैं; उनमें प्रत्येक गुण, स्वाधीन तथा असहाय अनादि-अनन्त रहता है। उन अनन्तानन्त गुणों में से, ज्ञान तथा चारित्र, दो गुणों को मुख्य स्थापित करके, गुणभेद-कल्पनारूप द्रव्यार्थिकनिमित्त -उपादान को समझना चाहिए।

प्रश्न 5- ज्ञान और चारित्रगुण को कितने बोलों द्वारा समझाया है?

उत्तर - ज्ञान और चारित्रगुण को, चार बोलों से समझाया है। यथा—

(1) गति, (2) शक्ति, (3) जाति, और (4) सत्ता।

प्रश्न 6- जीव के ज्ञानगुण तथा चारित्रगुण में, गति आदि की अपेक्षा, चौभंगी विचार का खुलासा करें।

उत्तर- ज्ञानगुण तथा चारित्रगुण की चौभंगी का, निम्न तालिका से स्पष्टीकरण सम्भव है —

गुण	गति	शक्ति	जाति	सत्ता
ज्ञान	ज्ञान-अज्ञान	स्व-पर प्रकाशक	ज्ञान-मिथ्यात्व	आत्मद्रव्यप्रमाण (असंख्यातप्रदेशी)
चारित्र	संक्लेश-विशुद्ध	स्थिरता-अस्थिरता (लीनता)	मन्द-तीव्र	आत्मद्रव्यप्रमाण (असंख्यातप्रदेशी)

(1) यहाँ, चारित्र की जाति, मन्द-तीव्ररूप कही है। यहाँ मन्दता-तीव्रता का, चारित्रमोहनीयप्रकृति की 4 चौकड़ियों में से, कितनी चौकड़ी का अनुदय-उदय की अपेक्षा कथन है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ मन्दता-तीव्रता कहकर, कौनसा गुणस्थान होगा, इसकी तरफ संकेत है।

(2) यहाँ, चारित्र की गति, संक्लेश-विशुद्धरूप कही है। यहाँ एक (समान) ही गुणस्थान है। अब, संक्लेश-विशुद्धता की बात करते हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के युद्धादि के काल में, संक्लेशपरिणाम है और

भक्ति, दान, पूजादि के काल में, विशुद्धपरिणाम हैं। ऐसा होते हुए भी, गुणस्थान चौथा ही है। ऐसा ही यथायोग्य बाकी के गुणस्थानों में समझना।

प्रश्न 7- द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान क्या है?

उत्तर - जिस गुण को स्थापित किया जाए, वह उपादान एवं जिस गुण को सापेक्ष बताया जाए, वह निमित्त है। जैसे-यहाँ ज्ञान को स्थापित करना, उपादान; चारित्र को सापेक्ष बताना, निमित्त।

सभी गुण, स्वतन्त्र तथा असहाय होते हैं; इसलिए इनमें निमित्त-उपादान कहा गया है।

प्रश्न 8- द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान की, चौभंगी किस प्रकार है?

उत्तर - चारित्रगुण को उपादान तथा ज्ञानगुण को निमित्त स्थापित करनेपर, उसकी चौभंगी इस प्रकार होगी—

चारित्रगुण उपादान

शुद्ध-उपादान	अशुद्ध-उपादान
(विशुद्धरूप गति)	(संक्लेशरूप गति)

ज्ञानगुण निमित्त

शुद्धनिमित्त	अशुद्धनिमित्त
(जानरूप गति)	(अजानरूप गति)

चौभंगी—

1. अशुद्धनिमित्त - अशुद्ध-उपादान
जब ज्ञान, अजानरूप हो और चारित्र, संक्लेशरूप हो, तब पहला भंग बनता है।
2. अशुद्धनिमित्त - शुद्ध-उपादान
जब ज्ञान, अजानरूप हो और चारित्र, विशुद्धरूप हो, तब दूसरा भंग बनता है।

3. शुद्धनिमित्त – अशुद्ध–उपादान

जब ज्ञान, जानरूप हो और चारित्र, संक्लेशरूप हो, तब तीसरा भंग बनता है।

4. शुद्धनिमित्त – शुद्ध–उपादान

जब ज्ञान, जानरूप हो और चारित्र, विशुद्धरूप हो, तब चौथा भंग बनता है।

इस चौभंगी में जानरूप ज्ञान ही, ज्ञान की शुद्धता कही है और अजानरूप ज्ञान को, ज्ञान की अशुद्धता कही है।

प्रश्न 9– क्या मिथ्यात्व अवस्था में भी, चौभंगी घटती है, यदि हाँ, तो कैसे?

उत्तर – मिथ्यात्व अवस्था में भी चौभंगी घटती है, वह इस प्रकार—

जीव, मिथ्यात्व अवस्था में जब ऐसा जानता है कि 'मैं जाऊँगा, धनादि यहाँ रहेंगे, या मैं रहूँगा, धनादि जाएँगे'—इस प्रकार के ज्ञान में, ज्ञान, जानरूप है। इस प्रकार के ज्ञान में गर्भितशुद्धता है; प्रकट शुद्धता नहीं है क्योंकि यहाँ मिथ्यात्वरूप ग्रन्थि का भेद नहीं हुआ है। ग्रन्थिभेद के बिना, प्रकट शुद्धता नहीं होती; वहाँ मात्र गर्भितशुद्धता होती है।

उक्त प्रकार के ज्ञान को, जानरूप ज्ञान जानना।

जीव, मिथ्यात्व अवस्था में, जब मन्दकषायरूप प्रवर्तन करता है, तब उस प्रकार के प्रवर्तन में, उस मन्दता से निर्जरा है; मन्दता ही चारित्र की विशुद्धि है।

उसी अवस्था में, जब तीव्रकषायरूप प्रवर्तन करता है, तब उस प्रकार के प्रवर्तन में, उस तीव्रता से बन्ध ही है; तीव्रता ही चारित्र का संक्लेश है।

मिथ्यात्व अवस्था में, किसी समय ज्ञान, जानरूप तथा किसी समय अजानरूप होता है। इसी प्रकार किसी समय चारित्र, मन्दकषायरूप तथा किसी समय चारित्र, तीव्रकषायरूप होता है – इस प्रकार चौभंगी घटती है।

मिथ्यात्व अवस्था में, जिस समय जानरूप ज्ञान और विशुद्धतारूप चारित्र होता है, उस समय निर्जरा जानना। तथा जिस समय, अजानरूप ज्ञान और संक्लेशरूप चारित्र होता है, उस समय बन्ध जानना।

मिथ्यात्व अवस्था में, बन्ध अधिक तथा निर्जरा कम है; इसलिए बन्ध कहा है।

प्रश्न 10– 'शुद्धता' के सम्बन्ध में, पण्डितजी की क्या संकल्पना है ?

उत्तर– पण्डितजी की संकल्पना नयी नहीं है; आर्षपरम्परानुसार ही है; मात्र शब्दावली का प्रयोग, नये ढंग से किया गया है।

आज तक शुद्धता का भाव, वीतरागता के अर्थ में होता रहा है।

पण्डितजी ने शुद्धता के दो भेद किए हैं—(1) सम्यक्शुद्धता, और (2) गर्भितशुद्धता।

सम्यक्शुद्धता ही परमार्थ मोक्षमार्ग होते हुए भी, विशुद्ध (शुभ) भाव को गर्भितशुद्धता कहकर, उससे भी निर्जरा होने की बात कही है, जबकि उससे तो बन्ध होना प्रसिद्ध है।

यद्यपि पण्डितजी को यह सब स्वीकार है तथा वे उसका जिक्र भी कर रहे हैं कि जब ग्रन्थी भेद होता है, तब दोनों (ज्ञान-चारित्र) की शिखा फूटती है परन्तु अशुभभाव से हटकर, शुभभाव में आने से, जीव को शुद्धभाव की प्रगटता के अवसर होने से, शुभभाव के गर्भ में ही, 'शुद्धभाव है' कहकर, शुभभाव (विशुद्धभाव) को, शुद्धभाव का बीज (कारण) कह रहे हैं।

पण्डितजी स्याद्वादशैली के प्रखर ज्ञाता है; अत: अशुभ की अपेक्षा, शुभ की उपादेयता (प्रवृत्ति-अपेक्षा) सिद्ध की है।

प्रश्न 11– गर्भितशुद्धता और प्रकटशुद्धता कब-कब कही है ?

उत्तर – जब ज्ञान का जानपना और चारित्र की विशुद्धता—ये दोनों मोक्षमार्गानुसारी हो, तब ग्रन्थिभेद के अभाव में, गर्भितशुद्धता कही है।

जब इसी अवस्था में ग्रन्थिभेद हो, तब प्रकटशुद्धता कही है।

हाँ, इतना है कि गर्भितशुद्धता, मोक्षमार्ग को नहीं साधती; ऊर्ध्वता को साधती है।

प्रश्न 12– नित्यनिगोदिया जीव का ज्ञान, उस काल में अजानरूप होनेपर भी, वह व्यवहारराशि को कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर – नित्यनिगोदिया जीव के ज्ञान का बल नहीं है क्योंकि उस अवस्था में ज्ञान,

अजानरूप—गहलरूप—अबुद्धरूप है, वहाँ ज्ञान का बल नहीं है; वहाँ विशुद्धरूप चारित्र के बल से जीव, व्यवहारराशि में आता है। (पृष्ठ 358)

प्रश्न 13- ग्रन्थिभेद होनेपर, इन दोनों गुणों में क्या विशेषता प्रगट होती है ?

उत्तर - ग्रन्थिभेद होनेपर ज्ञानगुण की शुद्धता से, ज्ञानगुण निर्मल होता है; चारित्रगुण की शुद्धता से, चारित्रगुण निर्मल होता है।

ग्रन्थिभेद के बाद, दोनों गुणों में, दो शिखाएँ फूटती हैं। दोनों गुण, धाराप्रवाहरूप से, मोक्षमार्ग में चलते हैं। ज्ञानगुण का निर्मलपरिणमन, केवलज्ञान का अंकुर है; चारित्रगुण का निर्मलपरिणमन, यथाख्यातचारित्र का अंकुर है। (पृष्ठ 358)

प्रश्न 14- विशुद्धता से निर्जरा कैसे कही ? उससे तो शुभबन्ध होता है।

उत्तर - हाँ, यह सही है कि विशुद्धता से, शुभबन्ध और संक्लेशता से, अशुभबन्ध होता है। विशुद्धता, ऊर्ध्वता को साधती है; संक्लेशता, अधोगति को। ऊर्ध्वरूप, मोक्षस्थान तथा अधोरूप, संसारस्थान जानना।

विशुद्धता, सदा काल मोक्ष का मार्ग है परन्तु ग्रन्थिभेद बिना, शुद्धता का जोर चलता नहीं। (पृष्ठ 358)

विशुद्धता में, शुद्धता नहीं होती तो ज्ञानगुण, शुद्ध हो जाता और क्रिया, अशुद्ध रहती–ऐसा होता नहीं; इसलिए विशुद्धता में शुद्धता मान, ऐसा माने तो तुझे शाबासी। (पृष्ठ 359)

यहाँ ऊर्ध्वता को ही निर्जरा जानना।

प्रश्न 15- पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान की चौभंगी का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - परयोग–कल्पना को, पर्यायार्थिक निमित्त–उपादान कहा है, इसे वक्ता और श्रोता के द्वारा समझाते हैं—

यहाँ वक्ता को निमित्त तथा श्रोता को उपादान जानना। वक्ता ज्ञानी हो तो, निमित्त को शुद्ध तथा अज्ञानी हो तो, निमित्त को अशुद्ध जानना। श्रोता ज्ञानी हो तो, उपादान को शुद्ध तथा अज्ञानी हो तो, उपादान को अशुद्ध जानना।

पर्यायार्थिक निमित्त–उपादान की चौभंगी—

1. निमित्त, अशुद्ध; उपादान भी अशुद्ध।
   जहाँ वक्ता, अज्ञानी और श्रोता भी अज्ञानी, वहाँ पहला भंग जानना।
2. निमित्त, अशुद्ध; उपादान, शुद्ध।
   जहाँ वक्ता, अज्ञानी और श्रोता, ज्ञानी; वहाँ दूसरा भंग जानना।
3. निमित्त, शुद्ध; उपादान, अशुद्ध।
   जहाँ वक्ता, ज्ञानी और श्रोता, अज्ञानी हो, वहाँ तीसरा भंग जानना।
4. निमित्त, शुद्ध; उपादान भी शुद्ध।
   जहाँ वक्ता, ज्ञानी और श्रोता भी ज्ञानी हो, वहाँ चौथा भंग जानना।
   इस प्रकार पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान की चौभंगी जानना।

प्रश्न 16- पर्यायार्थिक चौभंगी से क्या शिक्षा मिलती है?

उत्तर- निमित्तों की तलाश में, अमूल्य नरभव को बर्बाद न करके, उपलब्ध वीतरागी आगम को समझकर, युक्ति से सिद्धकर, अनुभव से प्रमाण करे। यह बात 'अज्ञानी, वक्ता तथा ज्ञानी, श्रोता' के और 'ज्ञानी, वक्ता तथा अज्ञानी, श्रोता' के युगल से ख्याल में आती है। हमारे ज्ञान में उपादान तो हमारा ही लगता है; निमित्त का नहीं।

दूसरी तरह विचार करे तो ज्ञानी वक्ता होनेपर भी, यदि हम अपना उपादान जागृत ही नहीं करें तो ज्ञानी वक्ता होने का क्या लाभ? **उपदेश तो शिक्षामात्र है; फल तो जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा होगा।** हम अपने उपादान पर लक्ष्य केन्द्रित करें, उसी का दृढ़ श्रद्धान करें। इसी से समस्त प्रयोजन की सिद्धि संभव है।

—oo—

नोट्स

ग्रन्थ के प्रकाशन – सहयोगकर्ता

Late Sh. Vinod Kumar Jain & Late Smt. Veena Rani Jain 128, Mary Pearson Drive, Markham, Ontario L3S3E9 Canada Thru, New Jersey Residents	1,90,000/-
श्री अनिल जैन परिवार, बुलन्दशहर	1,20,000/–
श्री विजयकुमार जैन, 'हाथरसवाले', दादर, मुम्बई	50,000/–
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	21,000/–
एक मुमुक्षु बहिन, मुम्बई	5,000/–

स्वर्णपुरी सोनगढ

मोक्षमार्गप्रकाशक प्रश्नोत्तरी